साधारण शिक्षा निबन्धावली—अङ्क ८

मनुष्य का धर्म

इटली

के

निर्माता और प्रसिद्ध देशभक्त जोज़फ़ मैज़िनी

कृत

'ड्यूटीज़् आव् मैन'

का

भाषानुवाद

अभ्युदय प्रेस, प्रयाग।

दूसरा संस्करण] १९२२ [मूल्य ॥=)

प्रकाशकः—

अभ्युदय प्रेस,

प्रयाग।

मुद्रकः—

श्री० सत्यव्रत,

अभ्युदय प्रेस, प्रयाग।

सम्पादकीय भूमिका

आज हम बहुत दिनों बाद निबन्धावली का आठवां अङ्क पाठकों के सामने लेकर उपस्थित हो रहे हैं। हमें खेद है कि हम इतने दिनों तक पाठकों की सेवा कुछ न कर सके। आशा है पाठक इसके लिए हमें क्षमा प्रदान करेंगे। इतने दिनों की कसर पूरी करने का हमने विचार कर लिया है, और यदि ईश्वर ने चाहा, तो अबकी बार अनेक उपयोगी पुस्तकों को हम शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।

यह "मनुष्य का धर्म" प्रसिद्ध देशभक्त जोज़फ मेज़िनी के "ड्यूटीज़ आव् मैन" का अनुवाद है। यह पुस्तक कैसे समय में लिखी गई थी इसका पूरा पूरा हाल पाठकों को 'प्रस्तावना' में, जो कि बड़ी ही योग्यता से लिखी गई है, मिलेगा। हम यहाँ पर इतना कह देना उचित समझते हैं कि हमने स्वयं न पुस्तक का अनुवाद ही किया है और न उसकी प्रस्तावना ही लिखी है। प्रस्तावक महाशय प्रकट नहीं होना चाहते, इसलिए हम उनका नाम लेकर धन्यवाद नहीं दे सकते। हम उनके विषय में इतना कह देना ज़रूरी समझते हैं कि वे देश के विशेष मनुष्यों में से एक हैं और उन्होंने मातृभूमि की अच्छी सेवा की है। उनकी विद्वत्ता, कर्मण्यता और ओजस्विता पर देश मुग्ध है। हम उनकी इस कृपा के लिए कृतज्ञ हैं और उनकी इस कृति की उत्कृष्टता को जी से सराहते हैं। प्रस्तावक महाशय के इस संक्षिप्त परिचय के पश्चात हम इस पुस्तक को अपने पाठकों के हाथों में रखते हैं।

प्रयाग,
६ सितम्बर, १९१३ } कृष्णकान्त मालवीय।

प्रस्तावना

इस पुस्तक के ग्रन्थकर्त्ता ऐसे समय में पैदा हुए थे जब यूरोप में अधिकार की फिलासफ़ी का बड़ा ज़ोर-शोर था। फ्रांस के महान परिवर्त्तन की बुनियाद अधिकार के सिद्धांत पर थी। उसके पहिले यूरोप में राजा लोग ईश्वर के प्रतिनिधि समझे जाते थे और उनके आगे जो राज्याधिकारी, ज़मींदार या पादरी लोग थे, वे भी अपने आपको ईश्वरीय सन्तान समझते थे। यहाँ तक कि प्रजा का कोई अधिकार नहीं समझा जाता था। प्रजा का यही धर्म था कि वह जमींदारों, राज्याधिकारियों, राज-कर्मचारियों तथा राजाओं की सेवा करती रहे और उम्र भर मेहनत मज़दूरी करते हुए हर तरह से उनके आराम के लिए धन आदि कमावे और दे। इसका फल यह था कि यूरोप के देशों की प्रजा अत्यन्त हीन अवस्था में थी और राजनीतिक, धार्मिक या दिमाग़ी स्वतन्त्रता की हवा तक उनको नहीं लगी थी। एक समय तो ऐसा था कि सारा योरप पोप के धार्मिक राज्य के अधीन था। पोप का धर्मबल तथा धर्माधिकार इतना बढ़ा हुआ था कि तमाम राजे और महाराजे उसकी आज्ञा में थे और उसकी आज्ञा के बिना कोई राजा गद्दी पर बैठ नहीं सकता था। इस लोक और परलोक दोनों की प्रभुताई की कुञ्जी उसके हाथ में थी। आख़िर लोगों में जागृति हुई और शनैः शनैः पोप के अधिकार कम हुये। जिस समय मार्टिन लूथर ने धार्मिक विचारों में स्वतन्त्रता का झण्डा ऊँचा किया तो यूरोप में बहुत कोलाहल मचा, परन्तु लोग उस समय बहुत दुखी थे, इस कारण महात्मा लूथर की सुलगाई हुई चिनगारी ने बहुत जल्द ही समस्त यूरोप में परिवर्तन कर दिया। धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही प्रजा की बुद्धियों पर जो ताले लगे हुए थे खुल गये और लोगों में आन्दोलन

शुरू हो गया। इस आन्दोलन का फल यह हुआ कि यूरोप के लेखकों ने मनुष्यों के अधिकारों पर विचार करना शुरू किया और यूरोपवासियों को यह प्रतीत होने लगा कि जो सख्तियां राज-कर्मचारियों की तरफ़ से होती हैं उनका उनको कोई अधिकार नहीं और राजा लोग भी वैसे ही मनुष्य हैं जैसे और लोग। तालिसमैन, रूसो, वालटेर आदि के लेखों ने सर्वसाधारण के हृदयों की ग्रन्थियों को खोल दिया और मनुष्य के अधिकार rights of man का इतना प्रचार हुआ कि यूरोप की सब गद्दियां हिल गईं। परिवर्त्तन पर परिवर्त्तन होने लगे और राज्याधिकार थोड़े से मनुष्यों के हाथ से निकल कर प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथ में चला गया। एक शताब्दी के भीतर फ्रांस में चार परिवर्तन हुए। इनमें लाखों जाने गईं और बहुत कुछ अनाचार भी हुए। अन्त में यह निश्चय हुआ कि राजे महाराजे, जो कि प्रजा की सेवा और भलाई करने के लिए हैं, ईश्वर की तरफ़ से नहीं हैं और प्रजा को यह अधिकार है कि वह अपने प्रतिनिधियों के द्वारा राज्य का प्रबन्ध करे। इस पर भी यूरोप में सर्वसाधारण की दशा में बहुत उन्नति नहीं हुई। इसमें सन्देह नहीं कि राज्याधिकार एक बड़े समुदाय के हाथ में चला गया और प्रजा के एक बड़े भाग को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो गये, परन्तु सर्वसाधारण में विद्या न होने के कारण प्रजा का बड़ा भारी भाग अविद्या के अन्धकार में डूबा रहा और मज़दूरी करने वाली मंडली वैसी ही दुःखी और दीन अवस्था में रही।

जिस समय इस ग्रन्थ का रचने वाला पैदा हुआ था उस समय उसके देश में अन्य जाति का राज्य था। देश की अवस्था अति हीन थी। प्रान्त प्रान्त में जुदा जुदा राज्य था। एक प्रान्त के लोगों को दूसरे प्रान्त के लोगों के साथ किसी प्रकार की सहानुभूति न थी। स्वराज्य तथा स्वतंत्रता का किसी को कुछ ख्याल न था। सर्वसाधारण मनुष्यों की अवस्था बहुत ही ख़राब थी। एक समुदाय दूसरे समुदाय से बिगड़ा हुआ था। सारे देश तथा

सरी जाति में फूट फैली थी। प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी पड़ी हुई थी, किसी को किसी के साथ प्रीति और सहानुभूति न थी। लोग अविद्यान्धकार में डूबे हुए थे। जो लोग जागृत थे, वे देश का हित चाहते थे। वे राजनीतिक अधिकारों का प्रचार करते थे। वे लोग स्वराज्य और स्वतंत्रता के नाम पर अपील करते थे, परन्तु उनकी शिक्षा और प्रचार में धर्म और कर्त्तव्य को वह स्थान न मिला था जिससे मनुष्यों की आत्माओं में बल आता है, और जिससे मनुष्य दूसरों के साथ प्यार और धर्म का आचरण करना सीखता है। ग्रन्थकर्ता ने सोचा कि अगर स्वराज्य वा स्वतन्त्रता के नाम पर अपील करने से देश में स्वराज्य तथा स्वतन्त्रता की ख़्वाहिश पैदा भी हो गई और इस शिक्षा से लोग राजनीतिक परिवर्तन पर आमादा भी हो गये और स्वराज्य प्राप्त हो भी गया, तब भी जब तक लोगों में धर्म की शिक्षा न होगी उनका आपस का वर्त्ताव न्याय्य, और मैत्रीपूर्ण न होगा। जो लोग केवल अधिकार और धर्म का आसरा लेते हैं, उनमें उस समय तक एकता स्थिर रहती है, जब तक कि अधिकार प्राप्त नहीं होते और जब तक कुछ हासिल नहीं होता; किन्तु ज्यों ही उनको अधिकार प्राप्त हो जाते हैं उनके भीतर धर्म ज्ञान के अभाव से आपस में विरोध और झगड़ा शुरू हो जाता है, और जो कुछ पहिले प्राप्त किया हुआ होता है वे उसे भी खो बैठते हैं। इसका एक उदाहरण हमको बालकन लोगों के युद्ध से प्राप्त होता है। बलगेरिया, सर्विया, यूनान, इन तीनों प्रान्तों के लोगों ने इकट्ठे होकर यूरोपियन टर्की के विरुद्ध युद्ध किया और टर्की को पछाड़ मारा, लेकिन ज्यों ही टर्की हार गया इन तीनों में झगड़ा पैदा हो गया। यदि उनमें धर्म तथा न्याय का लेशमात्र भी होता तो झगड़ा पैदा न होता। यहां तो हर एक यह समझता था कि मेरे बल से जीत हुई है और इसलिए मेरा अधिकार है कि सब से बड़ा भाग जीते हुए देश का मुझे मिले। फल इसका यह हुआ कि ये आपस में कट मरे और इनको आपस में लड़ते देख टर्की ने एड्रियानोपिल पर फिर

कब्ज़ा कर लिया। हमारे ग्रन्थकर्त्ता ने जहां अपने देश में स्वराज्य तथा स्वतन्त्रता के विचार का प्रचार किया वहीं उसने यह भी ज़रूरी समझा कि लोगों को अपने धर्म का बोध कराया जाय जिससे स्वराज्य के प्राप्त हो जाने पर वह धर्म के अनुसार एक दूसरे से व्यवहार कर सकें और केवल अधिकारों के लिए आपस में विरोध कर लड़ने न लगें।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि (धर्म और कर्त्तव्य का सिद्धान्त अधिकारों के सिद्धान्त से अति उच्च और सुन्दर है) मनुष्य कैसी ही मन्द अवस्था में क्यों न हो और उस पर दूसरे कितना ही अन्याय क्यों न करते हों, यदि वह अपने धर्म से नहीं डिगता और अपना कर्त्तव्य पालन करता जाता है, तो कभी न कभी अवश्य उसकी कामयाबी मिलती है, और उसको अपने अधिकार भी प्राप्त हो जाते हैं। इसके विपरीत जो मनुष्य अपना धर्म छोड़ कर और अपने कर्त्तव्य का ध्यान न करके केवल मात्र अधिकारों पर ज़ोर देता है, वह संसार में स्वार्थ और अन्याय फैलाता है, इसीलिए हिन्दू शास्त्रकारों ने धर्म पर तथा कर्त्तव्य पर बड़ा ज़ोर दिया है। इस पुस्तक में जो कुछ पाठक पढ़ेंगे, वह सब कुछ हिन्दू शास्त्रों में मौजूद है। ग्रन्थ का रचनेवाला हिन्दू न था। उसको हिन्दू शास्त्रों से जानकारी भी न थी। उसने जो कुछ शिक्षा दी है वह उसके दिमाग़ और उसके मन की शुद्धता की साक्षी है। वह अति सुन्दर है, और आजकल की आपाधापी के समय में विचारने के योग्य है।

(धन, विद्या, राज्य—ये तीन प्रकार के बल हैं और यह बल उस मनुष्य में शोभा देते हैं जो धार्मिक और अपने कर्त्तव्य का पक्का हो।) धन, विद्या और राज्य का अधिकार प्राप्त करके जो मनुष्य धर्म का ध्यान नहीं रखता और अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, उसके हाथ में ये तीनों बल अधर्म और अन्याय का कारण बन जाते हैं। इसीलिए यह आवश्यक है कि लोग धर्म और कर्त्तव्य-पालन पर अधिक ध्यान दें। हमारा यह सिद्धान्त नहीं है कि हमको अधिकारों का बिलकुल ख़याल न करना

चाहिये। संसार में जो मनुष्य अपने अधिकारों का ख़याल नहीं करता और दूसरे मनुष्यों को इस बात की आज्ञा देता है कि वे उसके अधि-कारों को पाँव से कुचल डाले, वह भी एक प्रकार का पाप करता है; क्योंकि इससे वह उन लोगों की सहायता करता है जो अन्याय से दूसरों का हक़ छीनते हैं। प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह संसार में अन्याय न होने दे—न अपने ऊपर और न दूसरों ही पर। सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म पर दृढ़ रहना चाहिये, और ऐसा करते हुए अपने अधिकार प्राप्त करने चाहिये। अधिकारों के त्याग अथवा वैराग्य से भी संसार में अमर्यादा फैलती है; ज़बरदस्त, धूर्त, स्वार्थी तथा अन्यायी लोगों को दूसरे के अधिकार छीनने का साहस होता है और इससे संसार में अधर्म तथा अन्याय फैलता है। जो मनुष्य किसी अधिकार को प्राप्त कर अपना कर्तव्य नहीं करता और धर्म या न्याय से व्यवहार नहीं करता उसके जैसा पापी तथा धूर्त संसार में कोई नहीं है। इसलिए यह आव-श्यक है कि जो लोग अधिकारों की इच्छा रखते हैं उनमें धर्म-बल घटने न पावे। ग्रन्थकर्ता ने जिस उत्तम विधि से मनुष्य-धर्म की शिक्षा दी है, और जिस प्रकार से उसने मनुष्य-धर्म के अङ्ग प्रत्यङ्ग बताये हैं वे प्रत्येक मनुष्य के लिए अति लाभदायक हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे देश-वासी उससे बहुत कुछ लाभ उठा कर ग्रंथकर्ता के कृतज्ञ होंगे।

पाठक! सदैव स्मरण रखिये कि धर्म ही संसार में सब सुखों का मूल है। "धर्मोरक्षति रक्षितः", धर्म केवल पूजा-पाठ करने या शंख बजाने का नाम नहीं है, धर्म केवल मन्दिर में जाने से ही पूरा नहीं होता परन्तु; धर्म हर घड़ी मनुष्य के साथ रहता है। अपने कर्तव्य का पालन करना वास्त-विक धर्म है। जो माता अपने बच्चों को छोड़ कर समस्त दिन पूजा-पाठ में व्यग्र रहती है, वह कदापि धर्माचरण नहीं करती, वरन् महान अधर्म करती है। पूजा-पाठ धर्म का एक साधन है पर धर्म नहीं, अपने कर्तव्य को ठीक तौर से पालन करना ही धर्म है। अपने ईश्वर को स्मरण करना, अपने

कुटुम्ब की रक्षा करना, अपनी जाति की सेवा करना, अपने देश की सेवा करना, मनुष्य-जाति के उपकार में अपना समय और अपना धन लगाना—ये सब धर्म के अङ्ग हैं। धार्मिक पुरुष वही है जो इन सम्पूर्ण अङ्गों को यथाविधि पूरा करता है। धर्म के इन सब अङ्गों का विधान वा उपदेश इस पुस्तक में ऐसी सुन्दर रीति से किया गया है कि हम बड़े उत्साह से उसे अपने पाठकों की सेवा में अर्पण करते हैं।

—तुम्हारे दुःख में दुःखी।

ग्रन्थकार का परिचय।

पाठक ! यह पुस्तक उस धर्मात्मा पुरुष की कृति का अनुवाद है, जिसके एक एक शब्द से आस्तिकता, धर्मभाव और सार्वजनिक प्रेम की फुहारें छूट रही हैं, और जिसने अपना समस्त जीवन और सुख अपने देशवासियों की भलाई, नहीं नहीं मनुष्य जाति के हितार्थ निछावर कर दिया था। यह व्यक्ति जोज़ेफ़ मेजिनी के नाम से प्रसिद्ध था। इसके जन्म का गौरव यूरोप में इटली की पवित्र भूमि को है। जो इटली कभी पोप के व्यक्तिगत शासन की ज़ञ्जीरों में जकड़ा हुआ था, वहां प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की नींव डालना इसी महात्मा का काम है। इस पवित्र उद्देश्य के पालन में जो जो कष्ट उसने उठाये—कई बार देश से निर्वासित हुआ और मौत तो हरदम इसके सिर पर नाचती रही—उनको स्मरण करके रोमाञ्च होता है; परन्तु धन्य है, इस महात्मा के उत्साह, अध्यवसाय और लगन को; जबतक जीवित रहा, अपने व्रत की पारणा में अनवरत लगा रहा।

यद्यपि उस समय इटली के शासकों की तथा उनके अनुयायियों ने इसकी शिक्षा को निर्मूल और इसके उठते हुए बल को विध्वंस करने में कोई कसर नहीं रक्खी, तथापि इसने जो लोकहित का बीज बोया था, वह लोगों के हृदय में जड़ पकड़ गया और भीतर ही भीतर पुष्ट होकर समय पाकर उसकी शाखायें दूर दूर तक फैल गईं, जिनकी छाया में आज इटली निवासी ही स्वतन्त्र और निःशंक होकर विश्राम नहीं कर रहे हैं, किन्तु यूरोप के अधिकतर राष्ट्र और उपनिवेश भी आज प्रायः उसी मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, जिनको आज से ५० वर्ष पहले इसने "मनुष्य

जाति का भविष्य धर्म" के नाम से निर्देश किया था। ज्यों ज्यों मनुष्य जाति में एक दूसरे के सम्बन्ध और सम्पर्क से विद्या और सभ्यता की उन्नति होगी, त्यों त्यों यह मार्ग अधिकतर विस्तृत और दृढ़ होता जायगा।

हम यद्यपि सर्वांश में और सब देश काल में उन विचारों और सिद्धांतों से सहमत न हों, जो ग्रन्थकार ने इस पुस्तक में प्रकाशित किए हैं, तथापि हमको उनसे सहानुभूति अवश्य है, इसलिए कि वे एक ऐसे शुद्ध और निस्स्वार्थ हृदय से निकले हैं जिसका आत्मा देशहित और लोकहित की अग्नि से जल रहा था। हमको इस पुस्तक के प्रकाशित करने में विशेष हर्ष और गौरव इस बात का है कि ये विचार यद्यपि मेज़िनी के हृदय से निकले थे, तथापि पुष्टि और दृढ़ता इन्होंने इङ्गलैण्ड की उदार और स्वतंत्र भूमि में पाई।

महात्मा मेज़िनी जब इटली से निर्वासित हुआ, तब दीर्घकाल तक उसने इङ्गलैण्ड में ही रह कर अपने विचारों और सिद्धान्तों को परिपक्व और परिपुष्ट किया था और वहीं पर उसने अपना कार्यक्रम (प्रोग्राम) निर्धारित किया था, इङ्गलैण्ड निवासियों के ही इस आश्रय और साहाय्य से मेज़िनी अपने विचारों को फैला या कार्य में परिणत कर सका— यह कहना अत्युक्ति न होगी। उसी उदार और स्वतंत्र राष्ट्र की—जिसकी गोद में इन सिद्धान्तों ने परिपुष्टि पाई है—प्यारी प्रजा होने का सौभाग्य हमको प्राप्त है, इसलिए हम सहर्ष इनको प्रकाशित करते हैं। आशा है कि विज्ञ पाठक उसी शुद्धभाव से इन विचारों का अवलोकन तथा मनन करेंगे, जिस सद्भाव से ये एक निष्कपट हृदय से निकले हैं। जो महाशय ग्रन्थकार का विशेष परिचय जानना चाहें, वे श्रीमान् लाला लाजपतराय कृत ग्रन्थकार का जीवनचरित्र पढ़ें।

अनुवादक।

मनुष्य का धर्म

पहिला अध्याय

उपक्रम

चाहता हूं कि मैं तुम्हारे सामने तुम्हारे धर्म का वर्णन करूं, अर्थात उस पवित्र धर्म का निरूपण करूँ जो ईश्वर, मनुष्य जाति, स्वदेश और कुटुम्ब से सम्बन्ध रखता है।

तुम ध्यान देकर प्रेमपूर्वक मेरी बात सुनो, क्योंकि मैं भी प्रेमी के साथ तुमसे भाषण करना चाहता हूं। जो कुछ मैं कहूंगा, अपने विश्वास से कहूंगा, जिसको दीर्घकाल के अध्ययन अनुभव और चिन्तन ने मेरे हृदय में परिपक्व कर दिया है। जिन धर्मों को मैं तुम्हें बतलाऊँगा, जहां तक मुझसे हो सका, मैंने इनके पालन करने का यत्न किया है और जब तक जीवित रहूंगा, यत्न करता रहूंगा। मुझसे भूल होना सम्भव

है; परन्तु मेरी भूल जान-बूझ कर न होगी। सम्भव है कि मैंने धोखा खाया हो, किन्तु मैं तुम्हें धोखा न दूंगा। इसलिए मेरे निवेदन को भ्रातृ प्रेम से सुनो और फिर अपनी स्वतंत्र सम्मति स्थिर करो कि मेरा कथन सत्य है या भ्रान्तियुक्त? यदि भ्रान्तिमूलक जान पड़े तो तुम कदापि उसे ग्रहण न करो, किन्तु यदि सत्य प्रतीत हो तो तुम निःसङ्कोच उसे धारण करो और मेरी शिक्षा के अनुकूल आचरण करो। भूल करना एक अज्ञात अपराध है और इसीलिए क्षमा के योग्य है। परन्तु सत्य को जान लेना और अपने आचरणों को तदनुकूल न करना एक ऐसा अपराध है, जो व्यवहार और परमार्थ दोनों की दृष्टि में समान रूप से अनुचित और दण्डनीय है।

क्या तुम समझते हो कि मैं किस लिए तुमसे तुम्हारे अधिकारों का वर्णन न करके पहिले ही तुम्हारे धर्म का निरूपण करने लगा हूं। क्या तुम समझ सकते हो कि मैं यह जान कर भी कि तुम एक ऐसी सोसाइटी में रहते हो, जिसका लक्ष्य तुम्हारी शोचनीय दशा नहीं है और यह अनुभव करता हुआ भी कि संसार में तुम्हारे लिए कष्ट ही कष्ट है, वह वस्तु जिसे आनन्द कहते हैं, तुम्हारे भाग्य में नहीं है, मैं क्यों तुमसे तुम्हारी सांसारिक सफलता का वर्णन छोड़ कर कष्ट-साध्य आत्मसंयम और आचार शिक्षा का निरूपण करने लगा हूं?

पूर्व इसके कि मैं आगे बढ़ूं मेरे लिए यह उचित है कि मैं स्पष्ट रूप से इस प्रश्न का उत्तर दूं क्योंकि यही वह प्रसङ्ग

है जिसमें मेरा और मेरे देशवासियों का प्रायः मतभेद है और इसलिए भी कि यही वह प्रश्न है जो एक सहिष्णु, श्रमशील मनुष्य के दुःखित अन्तःकरण में स्वाभाविक रीति पर उत्पन्न होता है।

"हम लोग श्रमजीवी हैं, इसलिए दीन और दुखी हैं। हमारे सामने सांसारिक सफलता, स्वाधीनता और सुख प्राप्ति के उपायों का वर्णन करो। तुम हमें यह बतलाओ कि हमारे भाग्य में सदा के लिए कष्ट ही कष्ट है, या कभी हमारे दिन फिरेंगे। धर्म का उपदेश धनवानों को करो अर्थात् उन लोगों को जो ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हैं। जो हमें मनुष्य नहीं समझते, किन्तु अपने सुख का साधन समझते हैं और सौभाग्य और उन्नति के साधन को, जो न्यायानुसार मनुष्य मात्र के लिए हैं, केवल अपना स्वत्व समझते हैं। हमारे सामने हमारे अधिकारों का वर्णन करो और उनकी प्राप्ति के उपाय हमें बतलाओ। हमें यह शिक्षा दो कि हम क्या कर सकते हैं। पहिले हम अपनी जातीय और सामाजिक सत्ता सङ्गठित कर लें, तब हमें तुम धर्म की शिक्षा करना।"

प्रायः श्रमजीवी लोग ऐसा कहते हैं, और वे ऐसी सभाओं में जाते हैं और ऐसी बातों का आन्दोलन करते हैं, जो उनकी इस इच्छा और उक्ति के अनुकूल हैं। किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि जिस आन्दोलन में वे अभी तक लगे हुए हैं, वह प्रायः वही है, जो ५० वर्ष से बराबर हो रहा है, परन्तु उससे

किञ्चिद् भी सफलता श्रमजीवियों की साधारण दशा में नहीं हुई।

गत ५० वर्ष के भीतर यूरोप में उन्नति और संशोधन के लिए जो कुछ भी आन्दोलन (चाहे वह व्यक्तिगत शासन के विरुद्ध हो या वंशगत अधिकारों के प्रतिकूल) हुआ, इसमें सन्देह नहीं कि वह सब मानुषी स्वतन्त्रता और अधिकारों के नाम से किया गया और इन्हीं को उस सफलता का साधन माना गया है, जो मानव जीवन का उद्देश्य या अन्तिम लक्ष्य मानी गई है। फ्रान्स के बड़े परिवर्तन और उन परिवर्तनों में जो उसके पश्चात् हुए, जो कुछ हुआ, वह सब मानवीय अधिकारों की घोषणा ही का परिणाम था। जिन दार्शनिकों की युक्तियों ने उस परिवर्तन के लिए मार्ग बनाया था उन सब का सिद्धान्त इसी मूल पर अवलम्बित था कि उसके अधिकारों की शिक्षा दी जावे। सम्पूर्ण परिवर्तन चाहने वाले समुदायों की शिक्षा यह थी कि मनुष्य सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए उत्पन्न हुआ है। उसका अधिकार है कि वह प्रत्येक उपाय से, जो उसकी शक्ति में हो, अपने लिए सुख की खोज करे और किसी को यह अधिकार नहीं है कि उसके इस प्रयत्न में बाधक हो। प्रत्युत इसको अधिकार है कि उन सब विघ्न और बाधाओं को दूर करे, जो इसके उन्नति के मार्ग में प्रतिबन्धक हों। इस प्रकार सब रुकावटों को दूर करके स्वतंत्रता प्राप्त की गई; जो बहुत से देशों में वर्षों तक बनी रही

और किन्हीं किन्हीं में अब तक विद्यमान है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मनुष्यों की दशा में कुछ उन्नति हुई? क्या उन ईश्वर के लाखों पुत्रों ने जो नित्य अपने हाथों के परिश्रम पर अपना निर्वाह करते हैं, उस सुखमय जीवन का, जिसके वे इच्छुक थे और जिसका उनको विश्वास दिलाया गया था, कोई भाग (अल्प ही क्यों न सही) प्राप्त किया? नहीं! मनुष्यों की दशा में कुछ भी उन्नति नहीं हुई। किन्तु बहुत से देशों में पहिले से अधिक सोचनीय दशा हो गई है। विशेषतः यूरोप में, जहां मैं लिख रहा हूं, जीवन की आवश्यकताओं का मूल्य बराबर बढ़ता गया और श्रमजीवी लोगों का वेतन किन्हीं किन्हीं व्यवसायों में धीरे धीरे कम होता गया और इस पर विपत्ति यह हुई कि जनसंख्या सर्वत्र बढ़ गई है। लगभग सब देशों में श्रमजीवीं समुदाय की दशा अधिकतर डांवाडोल और शोचनीय हो गई है और ऐसे अवसर प्रायः आने लगे हैं कि जब सहस्रों श्रमजीवी मनुष्यों को किसी समय विशेष के लिए हाथ पर हाथ रख कर बैठ रहना पड़ता है।

एक देश से दूसरे देश में और यूरोप से पृथ्वी के दूसरे भागों में प्रवास करने वालों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। दीनाश्रमों का प्रबन्ध और दूसरे उपाय जो भिक्षावृत्ति को रोकने के लिए किये जा रहे हैं हमारे कथन की सिद्धि में पुष्ट प्रमाण हैं। इन सब बातों से सिद्ध है कि लोगों के कष्टों पर सर्व साधारण का ध्यान आकर्षित हो रहा है, परन्तु शोक है

कि वे कष्ट कम नहीं हो रहे किन्तु प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं।

तो भी इन्हीं ५० वर्ष के भीतर धन के कोषों और सुख के प्रकृत साधनों में भी बराबर उन्नति हुई है। व्यापार की बहुत कुछ उन्नति हुई है और होती जाती है। यात्रा के साधन सुगम और अनुकूल हो गये हैं। इसीलिए बारबरदारी का खर्च जितना कम हुआ है, पैदावार का मूल्य भी उतना ही घट गया है। दूसरी ओर यह सिद्धान्त कि कुछ ऐसे अधिकार भी हैं जो मनुष्य के स्वभाव के साथ उत्पन्न हुये हैं, अब मुक्तकण्ठ से माना और स्वीकार किया जाता है। यहां तक कि वे लोग भी, जो इन अधिकारों को दबा रखना चाहते हैं, छल या कम से कम वाणी द्वारा इनका होना स्वीकार करते हैं फिर क्यों मनुष्यों की दशा में उन्नति न हुई? फिर क्यों पैदावार का खर्च समाज में समान रीति पर विभक्त न होकर कुछ मनुष्यों के हाथों में अर्थात ऐसे समुदाय की मुट्ठी में बन्द है, जो संसार को धनवानों के शासन में लाना चाहता है? इसका कारण क्या है कि शिल्प और वाणिज्य की इस उन्नति ने बहुतों को लाभ न पहुँचा कर केवल कुछ मनुष्यों के लिए ऐश्वर्य के साधन प्रस्तुत कर दिये।

जो लोग प्रत्येक विषय को गम्भीर दृष्टि से देखते हैं, उनके लिए इस प्रश्न का उत्तर बहुत स्पष्ट है। मनुष्य का सांचा (जिसमें वह ढाला जाता है) शिक्षा है। जिस प्रकार की शिक्षा उसे दी जाती है, उसी के अनुसार उसका भावी चरित्र

बनता है । पोलिटिकल (राजनैतिक) आन्दोलन करने वालों की स्थिति अब तक केवल एक बात पर रही है, अर्थात प्रत्येक मनुष्य को उसके स्वाभाविक अधिकार मिलना चाहियें यही उनका अब तक लक्ष्य रहा है। इस आन्दोलन से स्वतंत्रता उत्पन्न हुई अर्थात व्यक्तिगत स्वतंत्रता, शिक्षा की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, वाणिज्य की स्वतंत्रता निदान प्रत्येक बात में प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रता, प्राप्त हो गई।

परन्तु अधिकार मिल जाने से उन लोगों को क्या लाभ पहुँच सकता था, जिनके पास उन अधिकारों को प्रयोग में लाने के साधन न थे। शिक्षा की स्वतंत्रता उन लोगों के किस प्रयोजन की थी, जो इससे लाभ उठाने का न समय रखते थे न साधन। वाणिज्य की स्वतंत्रता उन लोगों के क्या काम आई, जिनके पास न तो माल था न पूंजी और न साख ही रखते थे।

उन सम्पूर्ण देशों में जहां स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन किया गया, ऐसे लोगों की संख्या सोसाइटी में बहुत ही थोड़ी थी; जो भूमि के स्वामी (ज़मीन्दार) थे या पूंजी और साख रखते थे; हां, बहुतायत से ऐसे लोग थे, जिनके पास सिवाय उनके हाथों के परिश्रम के और कुछ न था। ऐसे लोग अपना जीवन-निर्वाह करने के लिए बाध्य थे कि उस परिश्रम को पूंजीवालों के हाथ, जिन बन्धनों पर कि वे लेना चाहें, बेच देवें। जो लोग इस बात के लिए विवश हैं कि अपना सारा

दिन लगातार शारीरिक परिश्रम में व्यय करें और नित्य भूख और दीनता के साथ लड़ाई लड़ते रहें, उनके लिए स्वतंत्रता यदि एक धोखा और छलावा न था तो और क्या था?

इस रोग का उपाय केवल यही हो सकता था कि ऊंची कक्षा के लोग अपनी इच्छा से परिश्रम का समय घटाते और उसके मूल्य की दर बढ़ाते। नियमपूर्वक और बिना मूल्य की शिक्षा सर्वसाधारण को देते और ऐसा प्रबन्ध करते कि परिश्रम के उपकरण (औज़ार) सब को अनायास मिल सकते और सच्चरित्र एवम् योग्य श्रमजीवियों का विश्वास बढ़ाते।

परन्तु वे क्यों ऐसा करते? क्या स्वोन्नति उनके जीवन का उद्देश्य न थी? क्या वे सब के सब सांसारिक अभ्युदय के कामुक न थे? अवश्य थे। फिर वे दूसरों के लिए अपनी हानि क्यों करते? प्रत्येक को, जो वह कर सकता है, अपनी सहायता आप करनी चाहिये। जब सोसाइटी ने एक बार प्रत्येक व्यक्ति को यह अवसर दे दिया कि वह उन अधिकारों का उपयोग स्वतंत्रता से कर सके; जो मनुष्य की प्रकृति के साथ उत्पन्न होते हैं; तो वह अपना कर्तव्य पालन कर चुकी। यदि कोई मनुष्य अपनी दशा की प्रतिकूलता से किसी अधिकार का उपयोग नहीं कर सकता तो उसे अपने भाग्य पर सन्तोष करना चाहिये दूसरों को उपालम्भ न देना चाहिये।

जब धनवानों की ओर से दरिद्रों के साथ इस प्रकार का बर्ताव हुआ तो फिर प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को इसी दृष्टि से

देखने लगा। प्रत्येक मनुष्य अपने ही अधिकारों को प्राप्त करने और अपनी ही दशा के सुधारने में लग पड़ा, दूसरों की किसी ने कुछ परवा न की। जब एक के अधिकार दूसरों के अधिकारों से टकराने लगे तो परिणाम यह हुआ कि परस्पर संग्राम होने लगा। वह संग्राम नहीं जिसमें रुधिर की नदियां बहने लगें, किन्तु धन और कपट का युद्ध प्रवृत्त हुआ जिसमें पहिले युद्ध की अपेक्षा शूरता का काम कम था, किन्तु घातक होने में यह उससे कुछ भी कम न था। यह एक ऐसा निष्ठुर युद्ध था कि उन लोगों ने, जो साधन सम्पन्न थे, निर्बल और निःसहाय लोगों को पैरों के नीचे रौंद डाला।

इस लगातार युद्ध में लोगों ने स्वार्थ की शिक्षा पाई और सांसारिक अभ्युदय का दूसरों की अपेक्षा न करके लालच करना सीखे। केवल विश्वास की स्वतंत्रता ने धर्म की जड़ काटी और मनुष्यों के चरित्र को विचलित कर दिया और जब मनुष्य जाति में कोई एकता का सम्बन्ध न रहा अर्थात् धार्मिक विश्वास या प्रेम का बन्धन टूट गया, तो सब के सब स्वार्थ के यान में आरूढ़ होकर अपने अपने प्रयोजन के मार्ग में चलने लगे और इस बात की कुछ भी चिन्ता न की कि ऐसा करने में वे अपने भाइयों (भाई केवल नाम के, वास्तव में शत्रुओं) को पैरों के नीचे कुचलते जाते हैं। हमारी वास्तविक दशा, जिसमें हम इस समय वर्त्तमान हैं, यह है।

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि हमारे कुछ अधिकार हैं,

परन्तु जब एक मनुष्य के अधिकार दूसरे मनुष्य के अधिकारों से टकरा जायें, तब हम किस प्रकार आशा कर सकते हैं कि जब तक हम किसी ऐसी वस्तु का आश्रय न लेवें, जो सम्पूर्ण अधिकारों से उत्कृष्ट हो, वह विरोध दूर हो सकता है और जब एक व्यक्ति या बहुत से व्यक्तियों के अधिकार देश के अधिकारों से टक्कर खावें तो हम किस न्यायालय में अपील करें।

यदि मनुष्यमात्र का अधिकार है कि वह अपने लिए पूर्ण सुख, जो साध्य है, प्राप्त करे तो फिर मज़दूर और कारखानेदार का प्रश्न हम क्योंकर तै करेंगे। (यदि जीवित रहने का पहला अधिकार प्रत्येक मनुष्य का है तो कौन चाहेगा कि दूसरे मनुष्यों के लाभ के लिए वह आत्मत्याग करे।)

क्या तुम देश के नाम से, समाज के नाम से, सर्व साधारण के नाम से इस आत्म-त्याग की आशा कर सकते हो।

ऐसे लोगों के लिए जिनका यह उद्देश्य हो, जो मैंने ऊपर वर्णन किया, वही भूमिखण्ड स्वदेश है, जहां उनके व्यक्तिगत अधिकार अधिक सुरक्षित हैं। समाज यदि ऐसे मनुष्यों का समूह नहीं है कि जिन्होंने प्रत्येक के अधिकारों की रक्षा के लिए सामूहिक शक्ति से काम लेने का आयोजन किया है, तो फिर वह क्या वस्तु है ?

अतएव तुम जो ५० वर्ष से प्रत्येक व्यक्ति को यह उपदेश कर रहे हो कि समाज इसलिए बनाया गया है कि वह निर्विघ्न

और निःशङ्क अपने अधिकारों का प्रयोग करे, अब किस प्रकार उस मनुष्य से यह प्रार्थना कर सकते हो कि वह अपने उन समस्त अधिकारों को समाज के लिए विसर्जन कर दे। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर समाज की भलाई के लिए लगातार परिश्रम, कारागार और निर्वासन तक को सहन करे। जब तुम प्रत्येक प्रकार से जो तुम्हारी शक्ति में था उसको यह शिक्षा दे चुके हो कि पूर्ण सुख (आनन्द) जीवन का उद्देश्य और अन्तिम लक्ष्य है तो अब किस तरह उससे यह आशा रख सकते हो कि वह अपने देश को अन्य जाति के अत्याचार से बचाने या जिस समुदाय से उसका सम्बन्ध नहीं है, उसकी दशा उन्नत करने के लिए अपने सुख और जीवन दोनों को विसर्जन कर देगा। जब कि तुम वर्षों तक उसे प्राकृतिक लाभों की शिक्षा करते रहे हो तो क्या तुम यह कह सकते हो कि वह ऐश्वर्य और सामर्थ्य तक अपनी पहुँच देखेगा और उनको अपने अधीन करने में त्रुटि करेगा, चाहे इसमें उसके सजातियों की हानि ही क्यों न हो।

श्रमजीवी भाइयो! यह केवल मेरी निज की कल्पना नहीं है; जिसकी रचना मेरे मन ने की हो, किन्तु संसार की घटनाओं से इसकी पुष्टि होती है। यह इतिहास है और इतिहास भी प्राचीन समय का नहीं, किन्तु हमारे अपने समय का, जिसके पृष्ठ रुधिर से, हां जाति के रुधिर से, रंगे हुये हैं।

उन लोगों से पूछो, जिन्होंने सन् १८३० के परिवर्त्तन को मानव-सृष्टि के परिवर्तन ही में परिणत कर दिया और अपने

आपको प्रभुता और शक्ति के केन्द्र पर पहुँचाने के लिए अपने फरांसीसी भाइयों की लाशों से सीढ़ी का काम लिया। उनके सारे सिद्धान्त और उद्देश्य अधिकारों के प्राचीन मूल पर निर्भर थे, न कि मनुष्य के कर्त्तव्य के विश्वास पर। आज तुम उन्हें कपटी और देशद्रोही के नाम से पुकारते हो, किन्तु वास्तव में वे अपने विश्वास के पक्के और सच्चे थे। उन्होंने सद्भाव के साथ दशम चार्लस की गवर्नमेन्ट के साथ युद्ध किया। क्योंकि जिस समुदाय में ये लोग थे, उक्त गवर्नमेन्ट उसको अपना शत्रु समझती थी। उसने उनके अधिकारों को तोड़ना और दबाना चाहा था। उनका संग्राम उस जातीय सुख के लिए था जो उनके मतानुसार उन्हें उतना प्राप्त न था, जितने का कि वे अपने को अधिकारी समझते थे। इनमें से कोई कोई अपने विचार स्वातन्त्र्य के कारण सताये गये। दूसरों ने जो उच्च विचार और योग्यता के मनुष्य थे, अपने आपको सम्पूर्ण पदों और सरकारी सेवाओं से वञ्चित पाया और अपने से कम योग्यता के मनुष्यों का उन पर अधिकार पाते देखा और इस पर जाति की उपेक्षा और नीचता ने उनको और भी भड़काया। अतएव उन्होंने साहसपूर्वक किन्तु सद्भाव के साथ उन अधिकारों पर विशेष बल लगाया, जो समस्त मनुष्य जाति के स्वाभाविक थे।

किन्तु जब उनको राजनैतिक और व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त हो गये, जब उनके लिए उक्त पदों पर पहुँचने का मार्ग खुल गया, जब उन्हें वह सुख मिल गया, जिसके कि वे इच्छुक थे,

तब उन्होंने उन लाखों मनुष्यों को (जो उनसे निम्न श्रेणी में थे, जो शिक्षा और आकांक्षा दोनों में उनसे हीनतर थे) बिलकुल भुला दिया। जाति के लिए परिश्रम करना छोड़ दिया, केवल व्यक्ति के ध्यान में मग्न हो गये। तुम ऐसे लोगों को वञ्चक नहीं कह सकते, हां, उनके सिद्धान्तों को मिथ्या और भ्रान्तियुक्त कह सकते हो।

उसी समय फ्रांस में एक मनुष्य रहता था, जिसका परिचय तुम में से बहुतों को होगा और जिसको तुम्हें कभी भूलना न चाहिए। वह महात्मा यद्यपि उस समय हमारे सिद्धान्तों से सहमत न था, तथापि "धर्म" पर उसका दृढ़ निश्चय था। उसका विश्वास था कि लोकहित और सत्य का अवलम्बन करने के लिए सर्वतोभाव से आत्म-त्याग कर देना हमारा धर्म है। उसने बड़ी उत्कण्ठा से समय और सामयिक घटनाओं का अध्ययन किया था। इस महात्मा को न तो प्रशंसा ने अपने कर्त्तव्य से उपरत किया और न धोखा पाने से वह हतोत्साह हुआ। वह लोकहित के लिए एक साधन की परीक्षा करता था, जब उसमें सफलता न होती, तब दूसरे उपाय का अवलम्बन करता था। जब सामयिक अवस्था ने उसको सुझाया कि इष्ट प्राप्ति का केवल एक ही उपाय है। अर्थात् जब कि सर्वसाधारण ने मैदान में उतर कर अपने आपको उन लोगों की अपेक्षा जो उनके हितचिन्तक और पक्षपोषक थे अधिक सद्वृत्त और विश्वासपात्र दिखलाया तो वह अर्थात् "लीमंस" जिसकी

पुस्तक "एक विश्वासपात्र के शब्द" को तुम में से बहुतों ने पढ़ा होगा, उस कार्य का सबसे बड़ा सहायक बन गया, जिसका कि हमने समारम्भ किया है।

लीमंस में और उन लोगों में जिनका मैंने ऊपर वर्णन किया है, तुम उस अन्तर का निरीक्षण कर सकते हो, जो अधिकार के मानने वालों और धर्म के मानने वालों में पाया जाता है। प्रथम श्रेणी के लोगों ने अपने व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त करके कर्त्तव्य की बाग हाथ से छोड़ दी किन्तु दूसरी श्रेणी के लोगों का परिश्रम उनके जीवन के साथ समाप्त होगा।

उन जातियों में, जो परतन्त्र हो चुकी हैं, जहां पर जातीय आन्दोलन में बड़ी बड़ी रुकावटें हैं, जहां उन्नति के मार्ग में पद पद पर एक देशभक्त की भेंट चढ़ानी पड़ती है, जहां प्रचलित अन्याय के विरुद्ध गुप्त रीति पर आन्दोलन किया जाता है और ख्याति एवं प्रशंसा से जो मनस्तुष्टि हो सकती है, उसकी भी कोई आशा नहीं, वहां कौन सा धर्म या देशभक्ति का उत्साह है, जो उन लोगों को देशोन्नति के मार्ग में प्रधावित रख सकेगा, जिनके सिद्धान्त इस पवित्र सामाजिक युद्ध को (जिसमें हम लोग लगे हुए हैं) केवल एक व्यक्तिगत अधिकार प्राप्ति का साधन समझते हैं ? यह ध्यान रहे कि मैं बहुपक्ष को लेकर यह कह रहा हूं, मेरे इस कथन से वे कतिपय व्यक्तियां पृथक्भूत हैं, जो प्रायः प्रत्येक विचार के लोगों में पाई जाती हैं।

अब जब कि रक्तपात बन्द हुआ और अत्याचारों के रोकने का उत्साह जो, स्वाभाविक रीति पर नवयुवकों को इस लड़ाई की तरफ खींचता है, ठंडा पड़ गया, तो यह कौन सी वस्तु है, जो इतने वर्षों के व्यतीत हो जाने पर इन अवश्यम्भावी सन्देहों की उपस्थिति में, जो इस प्रकार साहसिक कामों में किये जाते हैं, एक ऐसे जीवन पर, जो सदा दूसरों की चिन्ता और अपने लिए भय और शङ्का से ही भरा हुआ नहीं है, किन्तु कारागार, फांसी और निर्वासन हर क्षण सामने खड़े दिखलाई देते हैं, इन्हें सुखमय जीवन के प्रलोभन से बचा सके।

यही दशा आज कल के इटालियन लोगों की है, जिनकी नस नस में यह फ़रांसीसी सिद्धान्त प्रविष्ट हो चुके हैं। यह दशा निस्सन्देह खेदजनक है। परन्तु हम इसको बदल नहीं सकते, जब तक कि हम उस विचार के प्रवाह को न बदल दें, जो उनके आचरणों का प्रवर्त्तक तथा प्रेरक है। हम क्यों कर किस के नाम से उन्हें विश्वास दिलायें कि प्रत्येक भय और भ्रान्ति से उनको नई शक्ति ग्रहण करनी चाहिये और यह उनका धर्म है कि इस पवित्र आन्दोलन को केवल कुछ समय के लिए नहीं किन्तु अपने जीवन पर्य्यन्त जीवित रक्खें? कौन किसी मनुष्य को अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन करने की आज्ञा दे सकता है, जब कि इस आन्दोलन में वह उन अधिकारों को छोड़ देने की अपेक्षा अपनी अधिक हानि

देखता है।

और एक ऐसे समाज में भी जो हमारे समाज की अपेक्षा उदार और न्याय का पक्षपाती है, कौन किसी ऐसे मनुष्य को जो केवल अधिकार के सिद्धान्त को मानता है, इस बात की प्रेरणा कर सकेगा कि लोक-हित के लिए उद्योग करना और सामाजिक सत्ता की पुष्टि और वृद्धि के लिए उद्यत होना उसका धर्म है ? कल्पना करो कि वह तुम्हारे सिद्धान्त के विरुद्ध हो जावे और यह भी मान लो कि वह सङ्कोच त्याग कर तुमसे यह कहने लगे कि लो मैं सामाजिक बन्धन तोड़ता हूं। मेरे मन की रुचि और मेरी अवस्था मुझे किसी दूसरी ओर ले जाती है। मुझे एक पवित्र और निर्बाध अधिकार प्राप्त है कि मैं अपनी उस इच्छा को पूर्ण करूँ तो अधिकार के सिद्धान्तानुसार तुम उसे क्या उत्तर दे सकते हो ? केवल बहुमत के कारण तुम्हें कब यह अधिकार है कि तुम उसे ऐसे सिद्धान्तों की अधीनता पर बाधित करो जो उसकी अपनी रुचि और उद्देश्य के विपरीत हैं। यदि वह तुम्हारे सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करे तो तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम उसे दण्ड दो ?

प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार बराबर हैं। केवल समाज में मिल कर रहने से कोई नया अधिकार उत्पन्न नहीं होता। समाज एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शक्तिमान है, परन्तु उसको अधिकार अधिक प्राप्त नहीं हैं। तब तुम किस प्रकार उस व्यक्ति के लिए यह सिद्ध करोगे कि वह अपनी इच्छा को

अपनी जाति की इच्छा के साथ मिला दे। क्या उत्पीडन और कारागार के द्वारा? प्रत्येक समाज ने आज तक इन्हीं उपायों से काम लिया है। किन्तु यह बल का अन्यथा प्रयोग है और हम शान्ति चाहते हैं। यह अत्याचार है और हम शिक्षा चाहते हैं।

मैंने "शिक्षा" शब्द का प्रयोग किया है और यही शब्द मेरे समग्र सिद्धान्तों का सार और निचोड़ है। वर्तमान समय का सब से आवश्यक प्रश्न "शिक्षा" का प्रश्न है। हम नहीं चाहते कि शक्ति के प्रयोग या अत्याचार से कोई नवीनता उत्पन्न करें। हम जो कुछ कहना चाहते हैं वह यह है कि अपने कर्त्तव्य-कार्यों की एक ऐसी पाण्डुलिपि जाति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करें, जिसको हम वर्तमान दशा से उत्तम समझते हैं और प्रत्येक सम्भव और उचित उपाय से मनुष्यों को शिक्षा दें कि वे उसकी पुष्टि और सहायता करें और तदनुसार आचरण स्वीकार करें।

(अधिकार का सिद्धान्त लोगों को इस बात की उत्तेजना दिलाने के लिए अच्छा है कि अत्याचार से जो रुकावटें उनके मार्ग में डाली गई हैं, वे दूर कर दी जायँ।) किन्तु) जहां यह अभीष्ट साध्य हो कि जाति के भिन्न भिन्न अङ्गों में एक महती और बलवती सामाजिक शक्ति उत्पन्न की जावे, वहाँ यह सिद्धान्त सर्वथा निर्बल है। (इस सिद्धान्त से कि सुख की प्राप्ति ही जीवन का अन्तिम उद्देश्य है, केवल ऐसे स्वार्थपरायण

लोग अधिकतर बनेंगे कि जो इस नये ढांचे को पुरानी गुदड़ी में छिपाने का यत्न करेंगे और थोड़े ही समय में उसके स्वरूप को बिगाड़ देंगे। अतएव हम एक ऐसे उत्कृष्ट सिद्धान्त के अनुयायी बनना चाहते हैं, जो मनुष्य जाति को उन्नति की ओर ले चलने में सब से उच्चतर हो, उसे धैर्य और आत्मत्याग की शिक्षा दे और उसको अपने सजातीयों के साथ इस प्रकार मिलने दे कि एक व्यक्ति विशेष के मत या बहुमत के प्राबल्य पर भरोसा करने की आवश्यकता न रहे।

यह सिद्धान्त "धर्म" का सिद्धान्त है। हमें लोगों को विश्वास दिलाना चाहिये कि वे सब एक ही ईश्वर के पुत्र हैं। इस संसार में एक ही उद्देश्य (क़ानून) को पूरा करना उनका धर्म है। उनमें से प्रत्येक मनुष्य इस बात के लिए बाधित है कि वह अपने लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए जीवे। जीवन का उद्देश्य न्यून या अधिक ऐश्वर्यशाली होना नहीं, किन्तु अपने आप को और दूसरों को सदाचारी बनाना है तथा अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध जहां कहीं वे पाये जावें, आन्दोलन करना केवल एक "अधिकार" नहीं है, किन्तु एक "धर्म" है और एक ऐसा "धर्म" है, जिसकी उपेक्षा करना पाप है।

मेरे श्रमजीवी भाइयो! मेरा अभिप्राय भलीभांति समझ लो। जब मैं यह कहता हूं कि तुम्हारा अपने अधिकारों से जानकार हो जाना एक बड़ी और अधिक समय तक रहने

वाली उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं है, तो मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि मैं तुमसे उन अधिकारों के छोड़ने के लिए कहता हूं। मेरा अर्थ केवल यह है कि ये अधिकार स्थायी नहीं रह सकते जब तक कि हम अपने धर्म का पालन न करें, अतएव (अधिकारों को प्राप्त करने से पहिले हमें धर्मात्मा बनना चाहिये, अन्यथा बिना आधार के आधेय कभी ठहर नहीं सकता।) और जब मैं यह कहता हूं कि ऐश्वर्य और सांसारिक लाभों को जीवन का उद्देश्य मान कर हम स्वार्थी लोगों को उत्पन्न करते हैं, तो इससे मेरा तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि तुम इनके लिए प्रयत्न न करो या इनके लिए यत्न करना पाप है। किन्तु मेरा अभिप्राय यह है कि जब सांसारिक लाभों को साधन-कोटि से हटा कर साध्य कोटि में प्रविष्ट किया जाता है तो इसका बड़ा भयानक और अनिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है।

जब प्राचीन रोमवालों ने बादशाहों के शासन में केवल रोटी और मन बहलानेवाली वस्तुओं पर सन्तोष कर लिया तो वह एक अत्यन्त ही निम्न कक्षा की जाति बन गई और इसका परिणाम यह हुआ कि अपने राजाओं के अयोग्य और निष्ठुर शासन के पश्चात् उनको बड़ी दुर्दशा के साथ अपने अशिक्षित शत्रुओं का दासत्व स्वीकार करना पड़ा। फ्रान्स में और सर्वत्र सामाजिक उन्नति के विरोधियों की यह नीति रही है कि लोगों को शारीरिक सुख और सांसारिक लाभों का प्रलोभन

देकर उन्नति और परिवर्त्तन के विचारों से पीछे हटाया जावे और क्या हमें उचित है कि हम अपने हाथों से प्रतिपक्षियों की सहायता करें।

हमारी सांसारिक दशा की उन्नति बहुत ही आवश्यक है और हमें उसके लिए यत्नशील होना चाहिये। इस कारण से नहीं कि हमारे रहने की जगह और खाने पीने का प्रबन्ध अच्छा हो, किन्तु इसलिए कि जब तक दरिद्रता और पराधीनता के साथ हमारा युद्ध रहेगा, तब तक हम न तो अपने वास्तविक स्वरूप या पद को जान सकते हैं और न अपनी आत्मिक या मानसिक शक्तियों को विकाश दे सकते हैं।

तुम्हें दिन के १० या १२ घंटे तक लगातार परिश्रम करना पड़ता है ऐसी दशा में तुमको पढ़ने के लिए कब अवकाश मिल सकता है। तुम्हारी बड़ी संख्या कठिनता से इतना कमा सकती है कि अपना और अपने कुटुम्ब का निर्वाह कर सके। फिर उच्चशिक्षा के साधन क्योंकर तुम्हारे हस्तगत हो सकते हैं? तुमको अपना काम एक अनियत समय के लिए प्रायः बन्द रखना पड़ता है और इसलिए कभी तुमको रातदिन घोर परिश्रम करना पड़ता है और कभी हाथ पर हाथ धर कर खाली बैठना पड़ता है। इस दशा में प्रबन्ध, नियम और उद्योग का अनुसरण तुम कैसे कर सकते हो? तुम्हारी जीविका इतनी नहीं है कि जिसमें से तुम कुछ बचा सको और वह समय पड़ने पर तुम्हारे या तुम्हारी सन्तान के काम आवे, फिर मितव्ययी तुम-

क्योंकर बन सकते हो? दीनता तुम में से बहुतों को लाचार करती है कि वे अपनी सन्तति को उनकी माता की (मैं नहीं कहूंगा कि शिक्षा से, क्योंकि एक दरिद्र की स्त्री से क्या शिक्षा का लाभ उसकी सन्तान को पहुँच सकता है) प्रेम-भरी गोद और निरीक्षकता से पृथक् करके कारख़ानों के कठोर और कष्टप्रद परिश्रम में नियुक्त करें, इसलिए कि वे कुछ पैसे कमा सकें। जिन बच्चों की यह दशा हो, उनके हृदय में देश, समाज या कुटुम्ब के प्रेम का क्या अंकुर जम सकता है?

नगरवासी होने का तुम्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। जो नियम श्रृङ्खला (क़ानून की ज़ञ्जीर) तुम्हारे बाँधने के लिए बनाई जाती है, उसमें तुम्हें सम्मति या वोट देने तक का अधिकार नहीं है। ऐसी दशा में तुम किस प्रकार नगरवासी होने का गौरव कर सकते हो? किस रीति पर राजभक्ति के लिए उत्साह दिखला सकते हो? और क्योंकर उसकी शासन पद्धति को अनुराग की दृष्टि से देख सकते हो?

तुम्हारी दीनता के कारण प्रायः यह असम्भव हो जाता है कि धनवानों के समान तुम भी अपने लिए न्याय प्राप्त कर सको, अतएव तुम न्याय का आदर और गौरव करना क्योंकर सीख सकते हो। समाज को तुम्हारे साथ तनिक भी सहानुभूति नहीं, फिर तुम समाज के साथ सहानुभूति करनां किस प्रकार सीखोगे?

अतएव यह आवश्यक है कि तुम्हारी सांसारिक दशा सन्तोष

जनक हो, क्योंकि बिना इसके तुम आत्मिक या मानसिक उन्नति भी नहीं कर सकते। यह आवश्यक है कि तुम्हें कम परिश्रम करना पड़े, जिससे कि तुम प्रतिदिन कुछ घन्टे आत्मिक उन्नति के लिए लगा सको। यह भी आवश्यक है कि कम से कम तुम्हारे परिश्रम का मूल्य इतना तो हो कि तुम उसमें से कुछ बचाकर भविष्य की चिन्ता से छुटकारा पाओ और सब से बढ़कर इस बात की आवश्यकता है कि तुम अपने अन्तःकरण को शुद्ध और पवित्र भावों से पूरित करो। यहाँ तक कि उन लोगों से भी (जिन्होंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है) कभी बदला लेने की इच्छा न करो, तुमको चाहिये कि अपनी वर्त्तमान दशा में इन संस्कारों के उत्पन्न करने की चेष्टा करो, अवश्य एक दिन तुम कृतकार्य होगे। परन्तु यह स्मरण रहे कि तुम इनको सदा साधन समझकर अन्वेषण करो, न कि साध्य मानकर। इनका प्रयोग अपना धर्म समझ कर करो, न केवल अधिकार समझकर। इनको इस प्रयोजन से ग्रहण न करो कि तुम अधिक ऐश्वर्यशाली हो जाओ, किन्तु इस उद्देश्य से कि तुम अधिक धर्मात्मा और सदाचारी बन जाओ।

यदि ऐसा न होगा, तो तुममें और उन लोगों में क्या अन्तर रहेगा, जिनके हाथ से तुम सताये गये हो। उन्होंने तुमको इसीलिए तो सताया था कि वे केवल सांसारिक सुख, शासन और अधिकार के भूखे थे।

तुम अपनी दशा सुधारो, यही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य

होना चाहिए। केवल अपने आपको सुधारने और अधिक सदा-चारी बनाने से तुम अपनी दशा को उन्नत बना सकते हो। जब तक तुम केवल सांसारिक लाभों या किसी सामाजिक कार्य विशेष के लिए आगे बढ़ने का यत्न करोगे, तब तक तुम में से ही सहस्रों छोटे छोटे उत्पीड़क और वञ्चक उत्पन्न होते रहेंगे। सामाजिक प्रबन्ध में कोई परिवर्त्तन होने से तब तक कुछ भी लाभ नहीं पहुँच सकता, जब तक दुष्भाव और स्वार्थ तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ते। सामाजिक प्रबन्ध उन जड़ी बूटियों के समान हैं, जो प्रयोग-विधि के अनुसार विष और अमृत दोनों का काम दे सकते हैं। सज्जन पुरुष बुरी अवस्था में भी भलाई और दुर्जन अच्छी दशा में भी बुराई कर सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उन समुदायों को सुधारना भी बहुत आवश्यक है, जो इस समय तुम्हें सता रहे हैं। परन्तु इसमें तुमको कभी सफलता नहीं हो सकती, जब तक कि तुम अपना सुधार न कर लो।

जब कभी तुम उन लोगों को, जो किसी सामाजिक परि-वर्त्तन की आवश्यकता समझते हैं, यह उपदेश करते हुये सुनो कि केवल तुम्हारे अधिकार मांगने से यह प्रयोजन सिद्ध हो सकता है तो तुम इस हितैषिता के लिए उनके कृतज्ञ बनो, पर कभी विश्वास न करो वे कृतकार्य होंगे, धनाढ्य लोग दरिद्रों के कष्टों को आँशिक रीति पर जानते हैं, परन्तु वे उन्हें अनुभव नहीं करते। उस बढ़ी हुई उपेक्षा से जो एक "धर्म"

पर विश्वास न होने से उत्पन्न हुई है और उस स्वार्थ पराय-णता के कारण जो चिरकाल तक सांसारिक सुखों का उपदेश होने से प्रत्येक के हृदयङ्गम हो गई है, वे लोग जो स्वयं विपद-ग्रस्त नहीं हैं, शनैः शनैः इस बात के अभ्यासी हो गये हैं कि दूसरों के कष्टों को सामाजिक प्रबन्ध का शोचनीय परिणाम समझें और इसकी चिकित्सा आनेवाली पीढ़ियों पर छोड़ते हैं। इनको क़ायल करना इतना कठिन नहीं है जितना कि स्थिति की दशा से गति की दशा में लाना। जब एक बार मान गये तो उन्हें प्रेरित करना चाहिये कि कुछ उद्योग करें और परस्पर अनुराग और भ्रातृभाव का सम्बन्ध स्थापित करके एक ऐसे सामाजिक प्रबन्ध की नींव डालें, जिससे जहां तक कि मनुष्य शक्ति की पहुँच है, एक ओर तो तुम्हारे कष्ट दूर हों, दूसरे ओर उनके सन्देह जाते रहें।

यह काम तभी हो सकता है जब मनुष्य के आत्मा में धर्म-भाव विद्यमान हो। जब कि वह उस सेवा में, जो ईश्वर ने अपनी मानवसृष्टि को यहां पृथ्वी पर सौंपी है, उस दायित्व में जो उन सब लोगों को भारी जान पड़ता है, जो इस सेवा के पालन करने में प्रमोद करते हैं और सच्चाई के लिए लगातार यत्न और आत्मत्याग करने के पवित्र धार्मिक भाव में विश्वास रखता हो।

अधिकार और सांसारिक लाभों का प्रत्येक सिद्धान्त जो अनुभव में आने के योग्य है, केवल यह कर सकता है कि

तुम्हें आन्दोलन करने के लिए उद्यत करे, जिसमें उस समय तक कभी सफलता नहीं हो सकती, जब तक कि तुम एक दूसरे से पृथक् और केवल अपनी ही शक्ति पर भरोसा करने वाले हो और जिनका परिणाम सिवाय इसके और कुछ नहीं हो सकता कि समुदायों में ईर्ष्या द्वेष फैले, जिससे बढ़ कर कोई सामाजिक अपराध नहीं है।

श्रमजीवी भाइयों! जब क्राइस्ट ने उत्पन्न होकर संसार की काया पलट की तो उसने धनवानों या निर्धनों के सामने अधिकारों का उपदेश नहीं किया। क्योंकि धनवानों को उनके प्राप्त करने की आवश्यकता न थी और निर्धन धनवानों का अनुकरण करके निस्सन्देह उनका दुरुपयोग करते। उसने उस जाति के सामने ऐश्वर्य और सांसारिक लाभों का कथन नहीं किया, जिसको वास्तव में इन्हीं पदार्थों ने नष्ट भ्रष्ट किया हो। किन्तु उसने धर्म, प्रेम आत्म-त्याग और विश्वास की शिक्षा उन्हें दी और बतलाया कि सब से अधिक महत्व संसार में उन्हीं लोगों को मिलेगा, जिनके परिश्रम से मनुष्य जाति को लाभ पहुँचा है।

क्राइष्ट के इन शब्दों ने जो एक ऐसे समुदाय के कानों में डाले गये थे, जिससे सच्चा जीवन बिलकुल निकल चुका था, उस सोसाइटी को फिर जीवित कर दिया। लाखों मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और मनुष्य जाति की सभ्यता उन्नति की तुला में एक अंश और बढ़ गई।

परिश्रमी भाइयों! हम भी एक ऐसे समय में रहते हैं, जो खीष्ट के समय से मिलता है। हम एक ऐसी सोसाइटी में रहते हैं, जो रोम के शासन से कुछ कम गिरी हुई नहीं है। और इसकी आवश्यकता अपने अन्तःकरणों में अनुभव कर रहे हैं कि नवजीवन देकर उसकी काया पलट की जावे। अर्थात उसके सम्पूर्ण भिन्न भिन्न अङ्गों को एक ही विश्वास पर एक ही नियम की अधीनता में और केवल इस एक ही उद्देश्य के लिए सहमत और एकत्र किया जावे कि उन सारी शक्तियों को, जो बीज रूप से ईश्वर ने अपनी सृष्टि को प्रदान की है, बिना किसी रुकावट के क्रमशः विकास दे सकें। हम यह चाहते हैं कि ईश्वर का राज्य जैसा स्वर्ग में है वैसा ही पृथिवी पर हो। या यों समझो यह पृथिवी स्वर्गीय जीवन लाभ करने का अधिष्ठान बन जावे और हमारा समाज ईश्वर तक पहुँचने का एक सोपान हो जावे।

खीष्ट का प्रत्येक उपदेश व आचरण उसके विश्वास का प्रतिबिम्ब था और उसके आस पास वे शिष्यवर्ग थे जिनके आचरण उस विश्वास का साक्ष्य देते थे, जो उन्होंने स्वीकार किया था। तुम भी ऐसे ही हो जाओ, निस्सन्देह कृतकार्य होगे। जो लोग तुम्हारी अपेक्षा उच्च कक्षा में हैं, उनको धर्म (कर्त्तव्य) का उपदेश करो और जहाँ तक तुम्हारे सामर्थ्य में है, तुम आप भी अपने धर्म का पालन करो। सदाचार, त्याग और प्रेम का उपदेश करो और आप भी सदाचारी, त्यागी और दयालु बनो।

अपने सिद्धान्तों का निर्भय होकर प्रचार करो और अपनी आवश्यकतायें निःशङ्कोच होकर प्रकट करो। क्रोध, वेग, आडम्बर या आतङ्क से कदापि काम न लो। यदि ऐसे लोग भी हों जिनको आतङ्क दिखाना आवश्यक समझा जावे, तो उपदेश में धमकी न देकर अपने सिद्धान्त में दृढ़ता दिखलाना तुम्हारा सब से अच्छा आतङ्क होगा।

जब तुम अपने भाइयों को एक अच्छे भविष्य की आशा दिलाते हो, जिससे उनको अच्छी शिक्षा और जीविका का आश्रय मिलेगा, तो वे अवश्य तुम पर विश्वास करेंगे और तुम्हारे उद्देश्य में सहायक होंगे। परन्तु इसके साथ ही तुम आप भी सुशिक्षा से लाभ उठाने और अपनी दशा को सुधारने का यत्न करो और उस सीमा तक शिक्षा प्राप्त करो, जो तुम्हें अपने कर्त्तव्य के ज्ञान और उसका पालन करने के लिए आवश्यक है।

यह ऐसा काम है, जो इस समय इङ्गलैण्ड के बहुत से भागों में सर्वसाधारण के लिए असम्भव सा हो गया है। जब तक लोगों को राजनैतिक और सांसारिक दशा में परिवर्त्तन न हो, साधारण शिक्षा का प्रचार सर्वसाधारण में नहीं हो सकता। और जो यह समझते हैं कि केवल शिक्षा में परिवर्त्तन करने से कार्य-सिद्धि हो सकती है, वे धोखे में हैं।

यदि तुममें से कुछ लोगों के हृदयों में भी सच्चे सिद्धान्तों ने (जिन पर एक जाति की धार्मिक, सामाजिक और राज-

नैतिक शिक्षा निर्भर है) एक बार स्थान पा लिया तो वे उनको लाखों मनुष्यों में फैलाने के लिए पर्याप्त होंगे और उनके मार्ग में प्रकाश का काम देंगे और उन धोखों और झूठे मन्तव्यों से उन्हें बचायेंगे, जिनके द्वारा उनको बहकाने का यत्न किया जायगा।

दूसरा अध्याय

ईश्वर
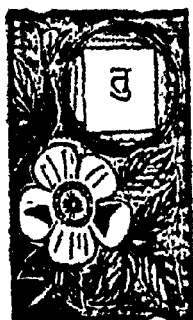
म्हारे धर्म का स्रोत ईश्वर है और अपने कर्त्तव्यों का विवरण तुम्हें उसके क़ानून में मिलेगा। उस क़ानून को क्रमशः अध्ययन करना और तदनुसार अपना आचरण बनाना मनुष्य का सर्वोपरि कर्तव्य है।

ईश्वर सत् है। यह मेरा काम नहीं कि मैं उसकी सत्यता तुम्हारे सामने प्रमाणित करूँ और न मैं ऐसा करने की चेष्टा ही करूँगा। क्योंकि मेरी सम्मति में इस बात की चेष्टा करना भी। वैसी ही नास्तिकता है, जैसी कि उसकी सत्ता को न मानना।

ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण यही है कि हमारा अस्तित्व है। वह हमारे अन्तःकरण में और सब मनुष्यों के अन्तःकरणों में विराजमान है। हमारा अन्तःकरण शोक या हर्ष के गम्भीर अवसरों पर उसको स्मरण करता है। यद्यपि मनुष्य ने उसका स्वरूप बदल दिया, उसको भयानक और अपवित्र बना दिया सही,

तथापि उसके पवित्र नाम को वह न दवा सका। सृष्टि के सारे पदार्थ अपने विचित्र स्वरूप, विलक्षण स्वभाव, नियमित प्रवन्ध और सर्वव्यापक नियमों से उसका साक्ष्य दे रहे हैं।

मैं आशा करता हूं कि तुम लोगों में कोई ईश्वर का अविश्वासी नहीं है और यदि कोई है तो वह निन्दा के योग्य नहीं, किन्तु दया के योग्य है। जो मनुष्य इस संसार में बड़े बड़े शक्तिमानों को विवश और दीन होकर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते हुए देख कर भी ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करता है, वह या तो बड़ा ही मन्दभाग्य है, या बड़ा ही अपराधी। निस्सन्देह पहला नास्तिक संसार में वह मनुष्य था, जिसने कोई पाप अपने सजातीयों से छिपाया था, वह उस सर्वसाक्षी और सर्व द्रष्टा के (जिससे किसी काल और किसी देश में भी कोई वात छिप नहीं सकती) अस्तित्व को न मान कर अपनी उस लज्जा, शङ्का और निन्दा को रोकना चाहता था, जिससे उसको कष्ट पहुँच रहा था। या शायद सबसे पहला नास्तिक वह अत्याचारी था, जिसने अपने भाइयों की स्वतन्त्रता छीन कर उनको निर्जीव कर दिया, तथा न्याय धर्म और अनादि अधिकार की जगह पाशविक अत्याचार का शासन स्थापित किया। इसके पश्चात् यत्र तत्र ऐसे मनुष्य भी प्रकट होते रहे, जिन्होंने दार्शनिक उन्माद में पड़ कर नास्तिकता की शिक्षा दी। परन्तु ऐसे मनुष्य हुये और वे अपनी करतूत से आप लज्जित थे। इनके पश्चात् उस समय में जो हमारे समय से बहुत दूर नहीं

था, बहुत से ऐसे लोग हुये जो किसी मिथ्या और असमञ्जस अपवाद से जो ईश्वर के विषय में मूर्ख और आपापन्थियों ने अविद्या या किसी दुष्ट कामना से लगाये थे उसके नाम से उपेक्षा करने लगे। क्योंकि वे सम्पूर्ण प्रचलित मतों में दोष देखते हैं और भविष्य कालीन मत के विषय में शुद्ध और निर्दोष होने का वे लोग विश्वास नहीं कर सकते। तथापि उनमें से किसी को यह साहस नहीं होता कि वे आपको नास्तिक कह सकें। निस्सन्देह ऐसे मत प्रचारक या मतानुयायी विद्यमान हैं, जो अपने किसी सांसारिक लोभ से ईश्वर के नाम को कलङ्कित कर रहे हैं और ऐसे अत्याचारी भी हैं जो अपने अत्याचार की पुष्टि में उसका नाम लेकर उसे झुठलाते हैं। परन्तु क्या इस कारण कि बहुधा मलिन आवरण सूर्य के सम्मुख आकर उसके प्रकाश को धुंधला कर देते हैं, हमें उचित है कि संसार को प्रकाशित करने वाले सूर्य के अस्तित्व और उसकी किरणों के जीवनप्रद प्रभाव का ही खण्डन करने लगें? क्या इसलिए कि दुर्जन स्वतन्त्रता प्राप्त करके कभी कभी उत्पात या अनर्थ कर बैठते हैं, हमको चाहिये कि स्वतन्त्रता को ही तिलाञ्जलि दे बैठें?

ईश्वर के सच्चे विश्वास का शुद्ध प्रकाश उन समस्त कपट, छल और आडम्बर के आवरणों को जिनसे धूर्त मनुष्यों ने उसके पवित्र नाम को आवृत कर रक्खा है, छिन्न भिन्न कर के निकलता है। कपट और दुराचार के बन्धन टूट जाते हैं; अत्या-

चार भी नहीं रहता, परन्तु ईश्वर शेष रहता है। इसी प्रकार जाति, जो पृथिवी पर ईश्वर की प्रतिनिधि है, शेष रहती है। हाँ जिस प्रकार जातियों को क्रमशः विद्या, शक्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए दास्य, दैन्य और दुःखों की दलदल से निकलना पड़ता है इसी प्रकार ईश्वर का पवित्र नाम पाखण्डयुक्त मतों के खण्डरों से ऊँचा उठ कर संसार को प्रकाशित करता है और पहिले की अपेक्षा अधिक भक्ति, अधिक अनुराग और अधिक सभ्यता से उसकी पूजा होने लगती है।

अतएव मैं जो तुमसे ईश्वर के विषय में कहता हूं, वह इसलिए नहीं है कि मैं उसका अस्तित्व सिद्ध करना चाहता हूं या यह बतलाना चाहता हूं कि उसकी पूजा करना तुम पर उचित है। जब कभी तुम आप अपने जीवन और अपने सजातीयों के (जिनसे वेष्टित हो) सम्बन्ध पर गम्भीरता से विचार करते हो तो तुम वास्तव में उसी की पूजा करते हो। किन्तु मैं तुम्हें यह बतलाना चाहता हूं कि उसकी पूजा किस रीति पर करनी चाहिये? इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें एक ऐसी भ्रान्ति से बचाना चाहता हूं, जो उन समुदायों में बड़े वेग से फैली हुई है, जो तुम पर शासन करते हैं और उनके उदाहरण से तुम में से बहुतों पर उसका प्रभाव पड़ता है, जो नास्तिकता से भी अधिक हानिकारक और भयानक है।

वह भ्रान्ति यह है कि ईश्वर को न्यूनाधिक उसकी रचना से, उस पृथिवी से जिस पर एक भाव जीवन का पूरा करने के लिए तुम्हें भेजा गया है, पृथक् कर दिया जाता है।

एक तरफ़ ऐसे लोग हैं, जो तुमसे कहते हैं कि "निस्सन्देह ईश्वर है, पर तुम इसके सिवाय और कुछ नहीं कर सकते कि उसका अस्तित्व स्वीकार करो और उसकी पूजा करो। ईश्वर और तुम्हारे आत्मा में क्या सम्बन्ध है, इसको कोई समझ नहीं सकता और न वर्णन कर सकता है। इस विषय में जितना चाहो, विचार करो, किन्तु अपने विश्वास को अपने सजातीयों में न फैलाओ और न सांसारिक बातों में उससे काम लेने की चेष्टा करो।"

"राजनैतिक और धार्मिक विषयों में बड़ा अन्तर है, इनको आपस में न मिलाओ। परलोक सम्बन्धी विषयों को धर्मोपदेष्टाओं (पुरोहितों) पर छोड़ो, कैसे ही वे क्यों न हों। यदि वे लोग तुम्हें अपने धर्म से पतित होते दिखलाई दें, तो तुमको उन पर विश्वास रखने या न रखने का अधिकार है। यदि प्रत्येक मनुष्य का पृथक् पृथक् विश्वास हो तो क्या हानि है? तुम्हें दूसरों के साथ मिल कर जिन बातों पर ध्यान देना चाहिये, वे इस संसार की बातें हैं। चाहे तुम प्रकृति के उपासक हो या आत्मोपासक, तुम कोई भी हो, क्या तुम मनुष्य जाति की स्वतन्त्रता और समता में विश्वास रखते हो? क्या तुम अधिक संख्या की भलाई चाहते हो? क्या तुम सर्व-सम्मति या बहुसम्मति के सिद्धान्त को मानते हो? यदि मानते हो तो इनकी प्राप्ति के लिए एकमत हो जाओ और इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि धार्मिक विषयों में भी तुम्हारा मतैक्य हो।"

दूसरी ओर ऐसे मनुष्य मिलेंगे, जो तुमसे कहेंगे "ईश्वर है, किन्तु वह ऐसा विलक्षण, अचिन्त्य और सम्पूर्ण सृष्टि से उच्चतर है कि तुम किसी सांसारिक साधन से उस तक पहुँचने की आशा नहीं कर सकते। यह संसार विनश्वर है और जीवन क्षणभङ्गुर। जहां तक हो सके संसार से अपना सम्बन्ध कम करो यहां तक कि अपने देह की ममता भी छोड़ दो। तुम्हारे आत्मा के अविनाशी जीवन के सामने संसार के समस्त सुख तृणवत् हैं। इस बात को सोचो और इस देहवाद को छोड़कर आत्मवाद में लगो। एक दिन मरना अवश्य है, ईश्वर तुम्हारा न्याय करते समय तुम्हारी लोकैषणा को नहीं देखेगा, किन्तु इस बात को देखेगा कि तुम्हारा उसके साथ क्या सम्बन्ध रहा? क्या तुम अप्रसन्न हो ईश्वर का धन्यवाद करो कि उसने दुःख और कष्ट तुम्हारे भले के लिए ही भेजा है। यह असार जीवन क्या है, तुम्हारी परीक्षा का एक अवसर है। यह पृथ्वी तुम्हारे निर्वासन की एक जगह है। इसका कदापि मोह न करो और अपनी सदा उच्चगति रक्खो। दुःख, दैन्य और दासत्व में भी तुम ईश्वरपरायण हो सकते हो। उसकी भक्ति, प्रार्थना और परलोक पर विश्वास रखते हुए तुम अपने आपको पापों से बचा सकते हो।"

जो लोग तुमको इस प्रकार का उपदेश करते हैं, उनमें से पहिले ईश्वर को प्रेम नहीं करते और दूसरे उसको जानते नहीं।

प्रथम श्रेणी के लोगों से कहो कि मनुष्य एक है, तुम उसको

दो भागों में विभक्त नहीं कर सकते। फिर यह कैसे हो सकता है कि वह उन सिद्धान्तों में तो तुमसे सहमत हो कि जो सामाजिक स्थिति की नींव डालते हैं, किन्तु अपनी स्थिति, भाग्य और जीवन के सिद्धान्त में तुमसे विरुद्ध मत रक्खे। संसार में मतों का राज्य है। यदि भारत-निवासियों का वास्तव में यह विश्वास था कि उनमें से कोई उनके ईश्वर (ब्रह्मा) के मुख से उत्पन्न हुए हैं, कोई भुजाओं से और कोई पावों से तो उन्होंने अपने समाज की यह व्यवस्था की कि एक मनुष्य जाति को चार जातियों में विभक्त कर दिया। एक जाति को धार्मिक नेतृत्व (मज़हबी रहनुमाई) का काम सौंपा गया। दूसरी के लिए सैनिक सेवा नियत हुई। शेष दासत्व की शृङ्खला में बांधे गये और इस रीति पर इन्होंने अपने आपको एक ऐसी निस्तब्ध दशा में ले जा डाला, जो अभी तक वर्तमान है और तब तक वर्तमान रहेगी जब तक कि इस धार्मिक सिद्धान्त में उनका विश्वास रहेगा।*

जब ईसाई लोगों ने संसार पर यह प्रकट किया कि सारे मनुष्य ईश्वर के पुत्र और आपस में भाई हैं, तो पूर्वकाल के विद्वानों और क़ानून बनाने वालों के वे सिद्धान्त जो मनुष्यों को दो जातियों में विभक्त करते थे, दासत्व की प्रथा को मेटने

*हिन्दुओं की धर्म पुस्तकों में कार्य विभाग के लिए चार वर्णों का विधान किया गया था, यह उनका दुर्भाग्य है कि आज उसको जाति भेद का मूल माना जा रहा है।

और उस भारी परिवर्त्तन को जो इसके कारण सामाजिक प्रबन्ध में प्रवृत्त हुआ रोकने के लिए बिलकुल व्यर्थ हुये।*

हम इतिहास में यह बात दिखला सकते हैं कि जो उन्नति मनुष्य ने अपने धार्मिक विश्वास में की है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उन्नति उसकी सामाजिक व राजनैतिक दशा में भी हुई है। पर तुम अपनी इस शिक्षा का कि धार्मिक विषयों में मनुष्य को उदासीन रहना चाहिए, सिवाय अशान्ति और अवनति के और कोई परिणाम नहीं दिखला सकते। तुम लोग तोड़ने वाले हो, जोड़ना नहीं जानते और यदि तुम से बन पड़ता है तो इसका खण्डन करो।

तुमने प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के एक सिद्धान्त में अतिशयोक्ति करके, जिस सिद्धान्त को छोड़ने की आवश्यकता अब स्वयं वही अनुभव कर रहा है, अपने समस्त विचारों की जड़ केवल व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को ठहरा कर क्या लाभ उठाया?

वाणिज्य में तुमने गड़बड़ मचाई अर्थात् निर्बलों पर अत्याचार होने लगा, राजनैतिक विषयों में तुमने स्वतन्त्रता प्राप्त की अर्थात् उस निर्बल समुदाय पर हँसने लगे, जिसको अपने अधिकारों के प्रयोग के लिए न अवकाश था और न साधन

*मनुष्य का ईश्वर-पुत्र होना और इस सम्बन्ध से परस्पर भाई भाई होना इस पवित्र भाव को संसार में सबसे पहले आर्य लोगों ने प्रकट किया। हां, योरोप में इस पवित्र भाव के फैलाने का यश न्यायानुसार ईसाइयों को मिलना चाहिये। अनुवादक

ही प्राप्त थे और न वह शिक्षित ही था। आचार में तुमने स्वार्थ से काम लिया, अर्थात् निर्बलों को जो स्वयं अपने आपको नहीं उठा सकते थे, नाश होने के लिए निःसहाय और निराश्रय छोड़ दिया।

किन्तु हम एकता (एसोसियेशन) चाहते हैं और यह क्योंकर विश्वस्त रीति पर हमें प्राप्त हो सकती है? जब तक सब भाई एक सर्वतन्त्र सिद्धान्त में विश्वास न रखते हों, एक धार्मिक विश्वास ने सब को समता की भूमि पर खड़ा न किया हो और एक ही पवित्र नाम की साक्षी सब मिल कर न देते हों।

हम शिक्षा चाहते हैं, परन्तु हम न शिक्षा दे सकते हैं और न प्राप्त कर सकते हैं, जब तक किसी ऐसे प्रबल सिद्धान्त से काम न लें, जो पृथ्वी पर मनुष्य जाति के जीवन और उसके उद्देश्य का सार न हो और उस पर हमारा एक ही प्रकार का विश्वास न हो।

और हम यह कहां से और कैसे निश्चय कर सकते हैं कि हम सब का एक ही कर्तव्य और एक ही धर्म है, जब तक कि ईश्वर पर हमारा विश्वास न हो और यह मालूम न हो कि उससे हमारा क्या सम्बन्ध है।

इसमें सन्देह नहीं कि राजनैतिक विषयों में सर्वसाधारण की सम्मति लेना एक अच्छी बात है। केवल यही एक उचित मार्ग है, जिससे कोई जाति आप अपने ऊपर शासन कर सकती है और लगातार अपनी इच्छा के विरुद्ध पराधीनता में पड़ने

की जोखम से बच सकती है। ऐसे देश में जहां एक धर्म का शासन है, सर्वसाधारण की सम्मति जातीय अभिरुचि का प्रकाश करती है। किन्तु जो देश एक धर्म की छाया से शून्य है, वहां पर सर्वसाधारण की सम्मति केवल उन लोगों के प्रयोजन को सिद्ध करती है, जो संख्या में अधिक है, शेष सब अत्याचार और बलात्कार की चक्की में पीसे जाते हैं।

जितने राजनैतिक संशोधन ऐसे देशों में किये गये, जो या तो किसी धर्म के अनुयायी न थे, या धर्म की ओर से उदासीन थे? वे केवल उस समय तक प्रवृत्त रहे हैं, जब तक कि उनके प्रयोक्ताओं के लाभ ने उनको प्रयुक्त रखने की आज्ञा दी, उससे अधिक समय के लिए नहीं। गत ५० वर्ष के भीतर यूरोप में जितने राजनैतिक प्रस्ताव हुए हैं, उनसे हमको पूरी पूरी शिक्षा इस विषय में मिल चुकी है।

अब रहे दूसरी श्रेणी के लोग जो तुम्हें परलोक का उपदेश करते और इस पृथिवी से उसको अलग करना चाहते हैं। उनके उत्तर में तुम यह कहो कि जैसे वाच्य और वाचक अथवा साध्य और साधन में केवल नाममात्र का भेद है, वास्तव में ये एक ही हैं। ऐसे ही यह लोक और परलोक भी भिन्न भिन्न नहीं हैं। हमसे यह मत कहो कि पृथिवी मट्टी की है। यह ईश्वर की है और हमारे लिए एक साधन बनाई गई है कि जिसके द्वारा हम ईश्वर तक पहुँच सकते हैं। पृथिवी कोई ऐसी जगह नहीं है कि जहां लालच या तोबाह के लिए हम कुछ दिन तक

स्थिति रखते हैं, किन्तु यह एक कार्यक्षेत्र है कि जिसमें हम अपनी उन्नति और पुष्ट करने तथा अपने जीवनोद्देश्य की प्राप्ति के लिए नियुक्त किये गये हैं। ईश्वर ने हमको जड़वत् स्तब्ध पड़ा रहने के लिए नहीं बनाया, किन्तु कर्म करने के लिए उत्पन्न किया है। उसने इस पृथिवी पर हमको अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा है। वह ज्ञान और कर्म का भण्डार है या यों कहना ठीक होगा कि उसका कोई विचार नहीं, जो साथ ही कर्म में परिणत न हो। "यस्यज्ञानमयं तपः"

तुम हमसे कहते हो कि हम संसार और उसके पदार्थों से द्वेष (नफ़रत) करें, केवल परलोक से सम्बन्ध रखने के लिए अपने इस जीवन को नष्ट कर दें, परन्तु क्या हमारा सांसारिक जीवन पारलौकिक जीवन का आरम्भ नहीं है और क्या हम इसके द्वारा उसमें प्रवेश नहीं करते? जब तुम उस सीढ़ी के, जिससे हमको चढ़ना है, सब से पिछले डंडे को पवित्र ठहराते हो और उसी के पहिले डंडे को बुरा कहते हो, तो तुम हमारे मार्ग को बन्द करते हो।

एक मनुष्य का जीवन अपनी सत्ता की प्रत्येक दशा में पवित्र है। वह इस दशा में भी अर्थात् जब कि पृथिवी पर है, वैसा ही पवित्र है, जैसा कि उन दशाओं में जो आगे आने-वाली है। प्रत्येक दशा या कक्षा को ऐसा समझना चाहिये, मानों कि हम उसमें दूसरी दशा या कक्षा के लिए तैयार हो रहे हैं। हमको उचित है कि हमारा प्रत्येक सामयिक आन्दो-

लन व उद्योग अविनश्वर जीवन की (जो ईश्वर ने हमको प्रदान किया) क्रमशः बढ़ने वाली उन्नति में तथा उस महत्वपूर्ण संस्था अर्थात् मनुष्य समाज की उन्नति में (जो उसकी प्रत्येक व्यक्ति के परिश्रम से संप्राप्त होती है) सहायक और उन्नायक हों।

ईश्वर ने तुमको इस पृथिवी पर रक्खा है और तुम अपने करोड़ों सजातीयों से आवेष्टित (घिरे हुये) हो, जिनके हृदय तुम्हारे हृदय से बल पाते हैं, जिनकी उन्नति या अवनति तुम्हारी उन्नति व अवनति के साथ और जिनका जीवन तुम्हारे जीवन के साथ सम्बद्ध और संश्लिष्ट है। एकान्तवास के भय और दुःख से बचाने के लिए ईश्वर ने तुमको ऐसी इच्छायें दी हैं, जिनको तुम एकाकी अपनी शक्ति से पूरा नहीं कर सकते और जो निरन्तर तुमको अपने सजातीयों के साथ मिलकर रहने को प्रेरणा करती हैं। जिनके कारण तुम इतर जन्तुओं से (जिनमें कि वे स्वाभाविक इच्छायें बन्द पड़ी हैं) महत्व रखते हो। ईश्वर ने तुम्हारे आस पास ऐसे प्राकृतिक दृश्य स्थापित किये हैं, जो स्वाभाविक सौन्दर्य और वैचित्र्य से युक्त हैं। ऐसे वैचित्र्य से जो यद्यपि ईश्वरीय इच्छा का द्योतक है, तथापि सब अवस्थाओं में तुम्हारा परिश्रम चाहता है और तुम्हारे उद्योग से अपना आकार परिवर्तन करता रहता है और जितने अधिक तुम परिश्रमी और ज्ञानवान होते जाते हो, उसी परिणाम से उसकी शक्ति और स्थिति में भी उन्नति होती जाती है।

ईश्वर ने तुम्हारे हृदय में कई प्रकार की सहानुभूति और संवेदना-शक्ति उत्पन्न की है, जो दूर नहीं हो सकती। जैसे दुःखित मनुष्यों पर दया करना, सुखी को देखकर प्रसन्न होना, जो दीनों पर अत्याचार करते हैं उन पर क्रोध करना, सदा सत्य की खोज में रहना, उस व्यक्ति की प्रशंसा करना जो सचाई का कोई नवीन अंश या रहस्य प्रकट करे, उन मनुष्यों के लिए सहानुभूति दिखलाना जो उस सचाई को मनुष्य जाति के हितार्थ कार्य में परिणत करने का उद्योग करें और उन मनुष्यों को आदरणीय एवं वन्दनीय जानना, जो यद्यपि उस सचाई को फैलाने में सफल-प्रयत्न न हुये हों, तथापि जिन्होंने अपने रुधिर से उसके बीज को सींचा और अपने प्राण उस पर न्यौछावर कर दिये। ये सब तुम्हारे मानवीय उद्देश्य के चित्र हैं, जिनको ईश्वर ने तुम्हारे हृदय-पट पर चित्रित कर दिया है; परन्तु तुम इनको स्वीकार नहीं करते और इनका खण्डन करते हो। जब तुम उसके हाथ के काम का अनादर करते हो और हमसे यह कहते हो कि हम अपनी सारी शक्तियों को केवल अदृष्ट के चिन्तन में लगावें, जो संसार का आधार छोड़ कर सम्भव है कि हमारे लिए असाध्य हो।

क्या ईश्वर उन लोगों को दण्ड नहीं देता जो ऐसा करने की चेष्टा करते हैं! क्या दास की दशा गिरी हुई नहीं है ? क्या दीन मज़दूर का जीवात्मा, जिस तक शिक्षा का प्रकाश नहीं पहुँचा और जो नीच पाशविक संस्कारों के नीचे दबा हुआ है,

उद्धार के योग्य नहीं है? क्या तुम एक ग़रीब रूसी ग़ुलाम में पोलैण्ड के उस निवासी की अपेक्षा जो अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ रहा है, अधिक धार्मिक योग्यता पाते हो? क्या तुम बारहवीं शताब्दी की प्रजातन्त्र - शासन-प्रणाली लम्बारड़ी या चौदहवीं शताब्दी के प्रजातन्त्र राष्ट्र फ्लारन्स के निवासियों की अपेक्षा एक पोप या किसी स्वेच्छाचारी राजा की गिरी हुई प्रजा में ईश्वर का सच्चा प्रेम अधिक देखते हो?

"जहां कहीं ईश्वर का आत्मा है, वहीं स्वतंत्रता है" यह संसार के एक बड़े प्रभावशाली महात्मा का वचन है। जिस धर्म की उसने शिक्षा दी, उससे दासत्व की प्रथा को उठा देने की व्यवस्था मिली। जो पतितात्मा मनुष्यों के पैरों में लोटता है, वह कब ईश्वर को उचित रीति पर जान सकता या उसकी उपासना कर सकता है।

तुम्हारा धर्म कोई धर्म नहीं है, किन्तु ऐसे लोगों का समुदाय है, जिन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप को भुला दिया है, जिन्होंने उन लड़ाइयों को भी भुला दिया है, जो उनके पितरों ने दुष्ट समाज के विरुद्ध की थीं और जिन्हें उस सफलता का भी स्मरण नहीं रहा, जो उन लोगों ने संसार की काया पलटने में प्राप्त की थी, जिनको तुम, हे अदृष्टवादियो! तुच्छता की दृष्टि से देखते हो।

पहला सच्चा और दृढ़ धर्म जो प्राचीन खण्डित मतों के खण्डरों पर स्थापित होगा वह हमारे वर्त्तमान सामाजिक

प्रबन्ध की बिलकुल कायापलट कर देगा। क्योंकि प्रत्येक दृढ़ और सच्चा धर्म मानवीय कार्यकलाप की प्रत्येक शाखा से अपना सम्बन्ध चाहता है। संसार अपने जीवन के प्रत्येक काल में सदा उस ईश्वर से (जिस पर कि उस समय उसका विश्वास था) अनुकूलता उत्पन्न करने की प्रवृत्ति दिखलाता रहा है। वस्तुतः मनुष्य जाति का कुल इतिहास ईसाई प्रार्थना के इन शब्दों का अन्वाख्यान है कि "तेरी बादशाहत जैसी आसमान पर है, ज़मीन पर भी हो" केवल आकृति और स्थिति में देश काल की घटनाओं के अनुसार परिवर्तन होता रहा है।

मेरे भाइयो! इन शब्दों को कि "तेरी बादशाहत जैसी आसमान पर है, ज़मीन पर भी हो" जो पूर्वकाल की अपेक्षा अब भली भांति समझे और प्रयोग में लाये जाते हैं, अपने वक्तव्य का स्वर और अपनी प्रतिदिन की प्रार्थना बनालो। इन्हें दुहराओ और इन्हें पूरा करने का यत्न करो।* कुछ परवा नहीं यदि और लोग तुम्हें इस बात की प्रेरणा करते हैं कि तुम सांसारिक पदार्थों को उनकी अवस्था पर छोड़ दो और उनसे उदासीन हो जाओ। यदि वे तुम्हें उपदेश देते हैं कि तुम प्रत्येक सांसारिक शक्ति की, चाहे वह कैसी ही अन्याय की प्रवर्त्तक क्यों न हो, अधीनता करो और बिना समझे बूझे इसका प्रमाण देते हैं कि राजा की वस्तु राजा को और ईश्वर

* ग्रन्थकर्त्ता अदृष्टवाद का तो खण्डन करते हैं, परन्तु आसमान की बादशाहत पर विश्वास रखते हैं, यह कैसा व्याघात है? (अनुवादक)

की वस्तु ईश्वर के अर्पण करो।

कोई वस्तु राजा की नहीं है जो ईश्वरीय क़ानून के अनुसार उसकी न हो। राष्ट्र अर्थात् शासन-शक्ति सिवाय इसके क्या है कि ईश्वरीय इच्छा की अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ति करने वाली हो। परन्तु जब वह अपने कर्त्तव्य और धर्म के विरुद्ध जाती है; तो उसको बदलना मैं नहीं कहता कि तुम्हारा अधिकार है, किन्तु कर्त्तव्य है।

यदि संसार में तुम्हारे आने का यह प्रयोजन नहीं है कि तुम अपने कर्त्तव्य की सीमा में और अपने हस्तगत साधनों के अनुसार ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करो तो फिर और क्या प्रयोजन है? तुम्हारा मनुष्य जाति की एकता में जो ईश्वर की एकता का सुनिश्चित परिणाम है, विश्वास रखने का क्या फल है? यदि तुम उसकी सुनिश्चित सिद्धि के लिए उस अनुचित भेदभाव और विरोध को, जो अभी तक मनुष्य जाति के भिन्न भिन्न समुदायों में भिन्नता और पार्थक्य का कारण है, दूर करने का यत्न नहीं करते।

मनुष्य की स्वतंत्रता में, जो मनुष्य के दायित्व की जड़ है, विश्वास रखने से क्या फल है, यदि तुम उन सारी रुकावटों को दूर करने की चेष्टा नहीं करते हो, जो स्वतंत्रता की बाधक है और दायित्व को नष्ट कर रही हैं। हम समता का क्यों नाम लेते हैं, जब कि हम अपने किसी भाई का पैरों में रौंदा जाना या पतित और अवनत होना सहन कर सकते हैं।

यह भूमि हमारा कर्मक्षेत्र है, हमें उचित नहीं कि हम इसको बुरा कहें, किन्तु इसको पवित्र बनाना हमारा काम है।

जो प्राकृतिक शक्तियां हमारे आस पास हैं, वे हमारे काम करने के लिए उपकरण (औज़ार) हैं। हमको उचित है कि हम उनसे लाभ उठावें, न कि उनको फेंक दें। परन्तु हम यह अकेले आप ईश्वर को छोड़ कर नहीं कर सकते।

मैंने तुमसे कर्त्तव्य का अनुरोध किया है और यह भी कहा है कि अपने अधिकारों का ज्ञान तुम्हें उच्च आदर्श की ओर नहीं ले जा सकता किन्तु यह तुम्हारी दशा में उत्तरोत्तर उस उन्नति और संशोधन करने के लिए भी पर्याप्त नहीं है, जिसके कि तुम इच्छुक हो।

ईश्वर से अलग होकर तुम कहां से अपना कर्त्तव्य मालूम करोगे? ईश्वर को छोड़ कर तुम किसी उपाय का भी अवलम्बन करो, तुमको मालूम हो जायगा कि वह धर्म और न्याय के आधार पर स्थित नहीं है, किन्तु उसकी जड़ अभिमान और अत्याचार पर रक्खी गई है।

मनुष्य के कार्यों की सफलता या तो किसी ऐसे ईश्वरीय कानून पर निर्भर है, जिसको जानना और प्रयोग में लाना हम सब का औचित्य है या उनको संयोग, समय और उस मनुष्य पर छोड़ दिया गया है, जो उन्हें उचित रीति पर काम में ला सकता है।

निदान हमारे लिए अवश्य है कि या तो हम ईश्वर के

आज्ञानुवर्ती हों, या मनुष्य की सेवा करें। वह मनुष्य एक है या अनेक यह कोई बात नहीं।

यदि कोई ऐसा विचित्र मस्तिष्क हमारा शासन करने वाला नहीं है, जो मनुष्यों के मस्तिष्क से विलक्षण है, तो वह कौन सी वस्तु है, जो हमको अपने सजातियों के उद्दण्ड शासन से, जब कभी वह हमारे लिए उत्पीड़क हो जाय, बचा सकेगी।

यदि एक ऐसा पवित्र और अटल क़ानून नहीं है, जो मनुष्य ने नहीं बनाया, तो वह कौन सा क़ानून है, जिसके अनुसार हम यह निर्णय कर सकें कि अमुक काम न्यायसङ्गत है या अन्यायपूर्ण ? और हम किसके नाम पर अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अपील करेंगे।

ईश्वर के सिवा कोई दूसरा क़ानून नहीं है, जो स्वतः सिद्ध और जिसके सामने संसार के शक्तिमान् से शक्तिमान् पुरुष भी सदा अपना सिर झुकाते हैं; इनका नाम चाहे बोनापार्ट रख लो, चाहे इसे रिवोल्यूशन के नाम से पुकारो।*

हम क्योंकर आशा कर सकते हैं कि मनुष्य हमारे समझाने से अपने स्वार्थ का त्याग देंगे या दूसरों के लिए अपना जीवन

---

* रिवोल्यूशन शब्द का अर्थ राष्ट्र-परिवर्तन है, किन्तु यहां उस बड़े परिवर्तन से तात्पर्य है, जो गत शताब्दी में फ्रांस में हुआ था और जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत शासन की वहां इतिश्री होगई।

(ग्रन्थकर्त्ता)

लगा देंगे।

क्या हम केवल अपने विश्वास के भरोसे पर अनुमान को प्रत्यक्ष और सिद्धान्त को कार्य के आकार में परिणत कर सकते हैं।

धोखे में न आओ। जब तक हम इस धुन में रहेंगे कि लोगों को आत्मत्याग की शिक्षा किसी ऐसे ढङ्ग पर दी जावे, जिसको हमारे मस्तिष्क ने निकाला हो, तो हमें केवल ऐसे अनुयायी मिलेंगे जो मुँह से सब कुछ कहेंगे किन्तु आचरण नहीं करेंगे। क्रोसीड*वालों ही की इस वाणी में "यह ईश्वर की इच्छा है, यह ईश्वर की इच्छा है" जो बड़े और श्रेष्ठ परिवर्तनों में बराबर गूंजती रही है, यह शक्ति है कि आलसियों अकर्मण्यों और कायरों को शूर बनावे। गिनती मिलने वालों में

*क्रोसीड उन धार्मिक लड़ाइयों का नाम है, जो युरोप के मध्य काल में ईसाइयों ने अरबों के विरुद्ध अपने पवित्र नगर को छुड़ाने के लिए की थीं। इन लड़ाइयों के पूर्व पियासनज़ और क्लियरमौन्ट में बड़ी उत्तेजक सभाएँ हुईं, जिनमें यरूशलम (खीष्ट की जन्मभूमि) को छुड़ाने के लिए बड़ी उत्तेजना के साथ वक्तृतायें की गईं, क्लियरलोन्ट की सभा में इस आवेश (जोश) की यह दशा थी कि प्रत्येक मनुष्य के मुँह से "यह ईश्वर की इच्छा है, यह ईश्वर की इच्छा है" यही शब्द निकल रहे थे और वास्तव में यही विश्वास इन तमाम लड़ाइयों की तह में अपनी झलक दिखा रहा था।

(ग्रन्थकर्त्ता)

आत्मोत्सर्ग का भाव उत्पन्न करे और उन लोगों के आत्माओं में धार्मिक बल उत्पन्न करे, जो सारी मानवीय रचनाओं को अविश्वास की दृष्टि से देखते और उनका खण्डन करते हैं।

मनुष्य जाति को यह जतलादो कि उसका क्रमशः उन्नति करते जाना ईश्वरीय इच्छा का एक अंश है और फिर कोई मनुष्य उसके विरुद्ध न होगा। उनपर यह प्रकट करदो कि संसार में जो कर्तव्य हमें पालन करने हैं, वे हमारे अविनश्वर जीवन का एक आवश्यक अंश हैं। फिर तुम देखोगे कि वर्तमान समय की सारी बाधायें और प्रतिकूलतायें भविष्य में जाकर तुम्हारे कैसी अनुकूल और उद्देश्यसाधक बन जाती हैं।

ईश्वर को छोड़कर तुम लोगों को बाध्य (मजबूर) कर सकते हो, किन्तु उन्हें प्रेरित या प्रवृत्त नहीं कर सकते। ईश्वर के बिना तुम अत्याचारी और आपापन्थी बन सकते हो, परन्तु शिक्षक या दूत नहीं बन सकते।

तीसरा अध्याय

क़ानून

तुम जीवित हो, इसलिए तुम्हारे जीवन का कोई क़ानून (नियम) भी है। ऐसा कोई जीवन नहीं है, जिसका क़ानून न हो। जिस वस्तु की सत्ता है, उसकी सत्ता का एक विशेष क्रम या उद्देश्य है और वह किसी विशेष नियम के आधीन है।

पार्थिव जगत् में एक संयोग का क़ानून काम कर रहा है, वानस्पत्य जगत् में वृद्धि का क़ानून अपना प्रभाव दिखला रहा है और सौर तथा नाक्षत्र गति के क़ानून की अधीनता कर रहा है।

चूँकि तुमको संसार में इतर सृष्टि से उत्कृष्टता प्राप्त है, इसलिए तुम्हारा जीवन उनकी अपेक्षा एक श्रेष्ठ और सर्वोपरि क़ानून की अधीनता चाहता है। अपनी उन्नति करना और अपने कर्त्तव्य और जीवन को उस क़ानून के अनुसार बनाना तुम्हारा औचित्य है। किन्तु कह सकता हूं कि यही एक तुम्हारा सर्वोपरि कर्त्तव्य है।

ईश्वर ने तुमको जीवन प्रदान किया है तो उसके साथ ह तुमको क़ानून भी दिया है। मनुष्य जाति के लिए क़ानूनी बनाने वाला केवल एक ईश्वर है और उसी का क़ानून एक ऐसा क़ानून है, जिसकी अधीनता प्रत्येक दशा में तुम पर उचित है। मनुष्य के बनाये हुये क़ानून वहीं तक अच्छे और श्रेयस्कर हैं, जहां तक वे ईश्वर के क़ानून से मिलते, उसकी व्याख्या करते और उसको पूरा करते हैं। परन्तु जिस समय वह उसकी प्रतिद्वन्द्वता करते या उसके विरुद्ध जाते हैं, अनर्थ उत्पादक हैं और उस समय उनको न मानना और उनको परिवर्त्तित कराना केवल तुम्हारा अधिकार ही नहीं किन्तु कर्त्तव्य है।

वही तुम्हारा धर्मानुसार शासक है, जो ईश्वर के क़ानून को भली भाँति जानता और अपनी शासन पद्धति में उत्तम रीत्या उसका प्रयोग करा सकता है। तुम ऐसे शासक की अधीनता स्वीकार करो और उसकी आज्ञा मानो। परन्तु स्मरण रक्खो कि सिवाय ईश्वर के और कोई तुम्हारा स्वामी (मालिक) नहीं है, न हो सकता है। किसी दूसरे को ऐसा समझना ईश्वर से विमुख और नास्तिक हो जाना है।

अतएव निखिल सदाचार का रहस्य, अपने सम्पूर्ण धर्मों और कर्त्तव्यों का सार और अपने दायित्व का अनुभव तुमको अपने जीवन के क़ानून अर्थात् ईश्वरीय नियमों के जानने से विदित हो सकता है। यही कानून उन अन्यायपूर्ण क़ानूनों से

तुम्हारी रक्षा करेगा, जिनको एक या अनेक मनुष्य अपने अत्याचार से तुम्हारे गले लगाना चाहें।

जब तक तुम इस क़ानून को मालूम न करो, तुम्हें अपने मनुष्य होने या मानवीय अधिकारों का अभिमान करना उचित नहीं। सारे अधिकारों की जड़ इसी क़ानून पर निर्भर है और जब तुम इस क़ानून से मदद नहीं ले सकते, तब तुम या तो उत्पीड़क होगे या दास। उत्पीड़क उस दशा में जब कि तुम बलवान् हो और निर्बल होने की दशा में बलवान् के दास होगे। सिवाय इसके तुम और कुछ नहीं कर सकते।

मनुष्य बनने के लिए यह आवश्यक है कि तुम्हें उस क़ानून का ज्ञान हो, जो मनुष्य के स्वभाव को पशु, वनस्पति और स्थावर के स्वभाव से अलग करता है और यह भी आवश्यक है कि तुम्हारे कार्यकलाप उस मानवीय स्वभाव के विरुद्ध न हों। अब प्रश्न यह है कि तुम्हें वह क़ानून क्यों कर मालूम हो?

यह ऐसा प्रश्न है, जो मनुष्य जाति की ओर से सदा उन लोगों के सम्मुख प्रस्तुत होता रहा है, जिन्होंने कर्त्तव्य का शब्द मुंह से निकाला है और इसके उत्तर अब तक भी भिन्न भिन्न हैं।

कोई इसके उत्तर में किसी विधि निषेधात्मक पुस्तक की ओर संकेत करके कहते हैं कि सारी धर्म की व्यवस्था इस पुस्तक में विद्यमान है। किन्हीं का मत है कि प्रत्येक मनुष्य

को यह प्रश्न अपने अन्तःकरण से करना चाहिये और वही इसका यथार्थ उत्तर देगा। एक और समुदाय है कि जो व्यक्तिगत विश्वास पर भरोसा न करके सर्वसम्मति या बहु-सम्मति को अपना आदर्श मानता है। उसका यह उपदेश है कि वही विश्वास सच्चा है, जिस पर मनुष्य जाति का ऐक-मत्य हो।

किन्तु ये सब भूलते हैं, ऐसे अकाट्य प्रमाणों से कि मानवीय इतिहास में जिनकी सत्यता प्रमाणित हो चुकी है, इन सब उत्तरों की निर्बलता सिद्ध हो चुकी है।

जो लोग यह कहते हैं कि धर्म का पूरा क़ानून एक पुस्तक में है या एक मनुष्य ने बतला दिया है, वे इस बात को भूल जाते हैं कि ऐसा कोई संग्रह धर्म का नहीं है, जिसको मनुष्यों ने कुछ काल तक मान कर और उसमें श्रद्धा रख कर पीछे इसलिए त्याग न दिया हो कि उससे श्रेष्ठ संग्रह की खोज करें और यह मान लेने का कोई कारण नहीं है कि वे भविष्य में अपने इस स्वभाव को बदल देंगे।

जो लोग सच और झूंठ, पाप या पुण्य का आदर्श मनुष्य के अन्तःकरण को समझते हैं, उनको हम केवल इतना ही स्मरण दिलाते हैं कि संसार में कोई मत (धर्म) चाहे वह कैसा ही पवित्र क्यों न था, ऐसा नहीं हुआ है, जिसमें झगड़ालू मनुष्य न हुये हों, या जिसमें ऐसे नास्तिक नहीं हुये जो पूर्ण विश्वास के साथ नास्तिक हुये और अपने अन्तःकरण के लिए

प्राण देने को उद्यत थे। प्रोटेस्टेन्ट मत इस समय हज़ारों सम्प्रदायों में विभक्त हो रहा है और आगे उनमें असंख्य भेद हैं। ये सब व्यक्तिगत अन्तःकरणों के आधार पर बने हैं और सब के एक दूसरे से लड़ने और अपने सिद्धान्तों में उस अशान्ति को बनाये रखने के पक्षपाती हैं, जो उन समस्त सामाजिक और राजनैतिक विवादों का मूल कारण है, जिनसे यूरोप की जातियां कष्ट उठा रही हैं।

अब उन लोगों को, जो व्यक्तिगत अन्तःकरण के साक्ष्य पर भरोसा न करके धर्म के लिए सर्वसम्मति या बहु सम्मति को ढूंढते हैं, यही कह देना पर्याप्त होगा कि सम्पूर्ण उच्चकोटि के भाव या विचार जिनसे अब तक मनुष्य जाति की उन्नति में सहायता मिली है, अपने आरम्भ काल में सदा मनुष्य जाति के तत्कालीन विश्वास के विरुद्ध रहे हैं और उनको फैलाने वाले ऐसे मनुष्य थे, जिनको मनुष्य जाति ने तुच्छता की दृष्टि से देखा, सताया और कलङ्कित किया है।

तो अब ईश्वरीय क़ानून या यों कहो कि सच्चाई का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इनमें से कोई एक भी आदर्श पर्याप्त नहीं है।

तथापि मनुष्य का अन्तःकरण एवं मनुष्य जाति की बहु-सम्मति ये दोनों आदरणीय हैं और जो मनुष्य इन दोनों में से किसी एक से सम्मति नहीं लेता, वह सच्चाई को प्राप्त करने का एक आवश्यक साधन आप अपने हाथ से खोता है। अब

तक बड़ी भूल यही चली आई है कि लोग इनमें से केवल एक आदर्श की सहायता से सचाई पर पहुँचने की चेष्टा करते रहे हैं। इस भूल का परिणाम बड़ा ही भयङ्कर है। क्योंकि व्यक्तिगत अन्तःकरण को यह समझना कि केवल वही सचाई का परखने वाला है, मनुष्य को आपापन्थी बनानेवाला है, इसी प्रकार जाति की इच्छा पर इसको निर्भर करना मनुष्य की प्रकृति-सिद्ध स्वतन्त्रता को कुचलना और उस पर बलात्कार करना है।

इस प्रकार प्रायः लोग इस भूल में पड़ गये हैं कि वे समाज की स्थिति का आधार केवल व्यक्तिगत अधिकारों को बतलाते और समाज की सामूहिक दशा को बिलकुल भुला देते हैं। दूसरे वे मनुष्य हैं, जो केवल सामाजिक अधिकारों पर ही समाज की नींव रखते हैं और ये लोग व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अर्थात् मानवी स्वाधीनता की जड़ काटते हैं।*

फ्रान्स ने अपने बड़े परिवर्तन के बाद और उससे भी बढ़ कर इंग्लैण्ड ने हमको यह सिखलाया है कि पहिले उपाय का परिणाम यह है कि विषमता उत्पन्न हो और बहुतों को अत्याचार और कष्ट सहने पड़ें और यदि साम्यवाद (कम्यू-

* मैं तुमसे उन देशों का वर्णन कर रहा हूं, जिनमें नियमबद्ध शासन है और समाज को एक विशेष ढंग पर लाने की चेष्टा की गई है। और जिन देशों की शासनपद्धति यथेच्छाचार पर निर्भर है, उनमें न कोई समाज है और न वहां के लोगों को व्यक्तिगत या सामाजिक अधिकार ही प्राप्त हैं। (ग्रन्थकर्त्ता)

निज़्म) * को कभी प्रबल होने का अवसर मिला तो उससे हमें यह शिक्षा मिलेगी कि दूसरे उपाय ने समाज की उन्नति रोक दी, क्योंकि कोई प्रलोभन और अवसर उन्नति के लिए न रहा।

निदान किन्हीं लोगों ने तो कल्पित व्यक्तिगत अधिकारों को मान कर समाज को परस्पर टकराने का अवसर दिया है, या यह कहना उपयुक्त होगा कि उसको छिन्न भिन्न कर दिया है। इसके विरुद्ध दूसरे लोगों ने केवल सामाजिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर राष्ट्र को उत्पन्न करनेवाली सारी शक्तियों का अधिकार गवर्नमेन्ट को दे दिया है। इनमें से पहले विश्वास का परिणाम वे सब अनर्थ हुये जो दुःशासन से पैदा हो सकते हैं और दूसरे का फल यह होगा कि समाज निर्जीव और निस्तब्ध हो जायगा।

ईश्वर ने तुमको दो पक्ष (पर) दिये हैं, जिनसे तुम उस की तरफ़ उड़ सकते हो। वे दो पर कौन से हैं? एक तुम्हारी जाति की बहुसम्मति, दूसरा तुम्हारा अन्तःकरण। तुम इनमें से एक को काट डालने का क्यों आग्रह करते हो? क्यों तुम

---

* कम्यूनिज़्म सोशलिज़्म की एक शाखा है और उन लोगों की सम्मति का नाम है, जो प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति (जायदाद) में व्यक्तिगत अधिकारों के विरुद्ध हैं और हर एक सम्पत्ति को न केवल समाज का दाय समझते हैं, किन्तु उसका उपभोग करना भी संयुक्त रीति पर ही उचित समझते हैं। (ग्रन्थकर्त्ता)

संसार से बिलकुल अलग या उसमें बिलकुल डूब जाने की चेष्टा करते हो? क्यों तुम इस धुन में हो कि या तो व्यक्तिगत आवाज़ का गला घोंटो या मनुष्य जाति की आवाज़ एक दम बन्द करो? दोनों पवित्र हैं और इनमें से प्रत्येक के द्वारा ईश्वर हम से बातचीत करता है। जब कभी ये दोनों आपस में मिलें अर्थात् तुम्हारा अन्तःकरण मनुष्य समाज की बहुसम्मति से पुष्ट अनुमोदित हो समझो कि ईश्वर वहीं है। सच्चाई के पूर्णरूप से दर्शन तुम्हें तभी हो सकते हैं जब कि यह दोनों एक दूसरे के अविरुद्ध हों।

यदि तुम्हारे कर्त्तव्य केवल निषेधात्मक होते अर्थात् इतने ही होते कि तुम पाप न करो, अपने सजातियों को हानि न पहुँचाओ इत्यादि, तो शायद उन्नति की उस सीढ़ी में जिसमें वे लोग भी (जिन्होंने तुमसे कम शिक्षा पाई है) पहुँच चुके हैं, केवल अन्तःकरण की प्रेरणा तुम्हारे लिए पर्याप्त होती। परन्तु तुम धर्म की अभिरुचि लेकर उत्पन्न हुए हो और जब तुम उस कर्म के करने का मन में सङ्कल्प करते हो, जिसको मनुष्य जाति ने एक मत होकर पाप माना है, तो तुम्हारे भीतर कोई शक्ति तुमको धिक्कार देती है। एक आवाज़ निन्दा की निकलती है, जिसको तुम दूसरों से छिपा सकते हो, पर अपने आप से नहीं छिपा सकते।

किन्तु तुम्हारे बहुत ही आवश्यक कर्त्तव्य विधेयात्मक हैं केवल तुम्हारे लिए यही आवश्यक नहीं है कि तुम कर्त्तव्य

से बचो, किन्तु कर्त्तव्य का पालन करना भी तुम्हारा परम धर्म है। केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि तुम क़ानून के विरुद्ध न चलो, किन्तु उसके अनुसार चलना भी तुमको उचित है। तुम पर यही आवश्यक नहीं है कि तुम अपने भाइयों को हानि न पहुँचाओ, किन्तु उनको लाभ पहुँचाना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। अब तक धर्म का उपदेश प्रायः निषेधात्मक रीति पर मनुष्य के प्रति किया जाता रहा है। ईश्वरीय क़ानून की व्याख्या करने वालों ने हमें बतलाया है कि "तुम हिंसा न करो, चोरी न करो," परन्तु किसी ने भी हमको न सिखलाया कि मनुष्य के कर्त्तव्य कर्म क्या हैं? वह किस प्रकार मनुष्य जाति का हित साधन कर सकता है और ईश्वर की इच्छा को जो अपने सन्तानों के प्रति वह रखता है, पूरी कर सकता है? वस्तुतः धर्म का मुख्य उद्देश्य यही है और कोई मनुष्य केवल अन्तःकरण की प्रेरणा से इस उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकता।

किसी मनुष्य का अन्तःकरण उसकी शिक्षा, उसके संस्कार और उसकी वासनाओं के अनुसार ही उसे प्रेरणा कर सकता है। एक असभ्य जङ्गली का अन्तःकरण उन्नीसवीं शताब्दी के एक सभ्य यूरोपियन के अन्तःकरण से भिन्न ही उसे प्रेरणा करेगा। एक उदार और स्वतन्त्र पुरुष का अन्तःकरण उसे जिन कर्त्तव्यों की ओर प्रेरित करेगा, उनका अनुभव संकीर्ण और पराधीन पुरुष को स्वप्न में भी नहीं हो सकता। लम्बारडी या नेपिल्स के दीन कृषक से पूछो, जिसको एक कट्टर पादरी

के सिवा और कोई धर्म का शिक्षक नहीं मिला था जिसको (यदि वह पढ़ना जानता है) आष्ट्रिया की प्रश्नोत्तरी के सिवाय दूसरी पुस्तक पढ़ने की आज्ञा नहीं है, वह तुमसे कहेगा कि उसका कर्त्तव्य केवल यही है कि अपने कुटुम्ब पालन के लिए जो उपजीविका उसे मिल सके उसी पर कठिन परिश्रम करे। राष्ट्र की शासनपद्धति के सामने (चाहे वह कैसी ही हो) चुपचाप अपना सिर झुकाये और किसी के साथ कोई बुराई न करे। यदि तुम उससे यह कहो कि जब तुम अपने परिश्रम का मूल्य कम कर लेते हो, तो अपने भाइयों को हानि पहुँचाते हो और जब तुम ऐसे नियमों की अधीनता स्वीकार करते हो जो न्यायसंगत नहीं हैं तो तुम ईश्वर और अपने आत्मा के विरुद्ध पाप करते हो तो वह इसके उत्तर में तुम्हारे मुंह की ओर ऐसी टकटकी बांध कर देखेगा, जिससे यह मालूम होगा कि वह तुम्हारी बात कुछ भी नहीं समझा।

अब इटालिया के मज़दूर से पूछो, जिसकी संयोगवश किन्हीं विशेष कारणों से या उन लोगों के संसर्ग से कि जिनका अन्तःकरण शिक्षा के आदर्श से स्वच्छ हो गया है, कुछ आंखें खुल गई हैं, वह तुम्हें बतलावेगा कि उसका स्वामी पराधीनता की दशा में है और उसके भाई अन्याय से बाधित किये गये हैं कि धार्मिक और सांसारिक आवश्यकताओं में परतन्त्र रह कर अपना कालयापन करें और वह यह अपना कर्त्तव्य समझता है कि

जहां तक उसके सामर्थ्य में है, वह इस अन्याय पर अपना असन्तोष प्रकट करे।

अब एक ही देश में और एक ही समय में दो मनुष्यों के अन्तःकरणों में इतना भेद होने का क्या कारण है? इसका क्या कारण है कि दस मनुष्य जो एक ही धार्मिक विश्वास रखते हैं और वह विश्वास जो मनुष्य जाति की उन्नति और वृद्धि की व्यवस्था देता है, किन्तु उस आचार के विषय में जिससे वह विश्वास मन से कर्म में आ सकता है, अर्थात् अपने कर्त्तव्य के विषय में दस की दस सम्मतियां देखने में आती हैं? प्रत्यक्ष में इसका कारण यही है कि व्यक्तिगत अन्तःकरण बिना किसी दूसरे आदर्श के सब दशाओं में इस बात के लिए पर्याप्त नहीं है कि वह असंन्दिग्ध रीति पर ईश्वरीय क़ानून को हम पर प्रकट करे। अन्तःकरण केवल हमको यह बतला सकता है कि कोई ऐसा क़ानून संसार में मौजूद है, किन्तु उस क़ानून से जो हमारे कर्त्तव्य बनते हैं, उनकी शिक्षा वह नहीं दे सकता और यह इसी कारण से है कि मनुष्यों में धर्म के लिए मरना कभी बन्द नहीं हुआ। यद्यपि स्वार्थपरता उन्नति पर है, तथापि कितने मनुष्यों ने अपने प्राण कल्पित धर्म के लिए या उन भूलों के लिए (जो आज हम सबको दीख रही हैं) निछावर नहीं कर दिये।

अतएव अन्तःकरण को भी किसी शिक्षक की आवश्यकता है। किसी ऐसे प्रकाश की आवश्यकता है, जो उस अंधेरे को उजाला कर दे जो उसके आस पास फैला हुआ है। एक ऐसे

आदर्श की आवश्यकता है, जिसके द्वारा उसकी स्वाभाविक इच्छाओं को योग्य शिक्षा और उचित मार्ग मिला करे। यह आदर्श मनुष्य जाति का ज्ञान है।

ईश्वर ने तुममें से प्रत्येक को विवेकशक्ति दी है, इसलिए कि तुम उसके द्वारा उसके क़ानून को जान सको। सम्प्रति तुमको दीनता और समय की परम्परागत भूलों ने उच्चशिक्षा के साधनों से वञ्चित कर रक्खा। इसलिए पहले तुमको उन रुकावटों को दूर करना है, जो तुम्हारी शिक्षा के मार्ग में बाधक हैं। किन्तु ये सब बाधाएँ भी दूर हो जावें, तब भी व्यक्तिगत ज्ञान ईश्वरीय क़ानून का रहस्य जानने के लिए पर्याप्त नहीं होगा, जब तक कि जातिगत ज्ञान से उसकी सहायता न की जावे। तुम्हारा जीवन अल्प है और तुम्हारा ज्ञान पृथक् पृथक् निर्बल और अनिश्चित है, उसको प्रमाण और पुष्टि दोनों की बराबर आवश्यकता है।

ईश्वर ने तुम्हारे बीच में एक ऐसी सत्ता को रक्खा है जिसकी शक्तियां उन सब व्यक्तिगत शक्तियों का फल और जोड़ हैं, जो अनादिकाल से वर्तमान चली आती हैं और जो सत्ता मनुष्यों की भूलों और त्रुटियों के बीच में बुद्धि और सदाचार में बराबर उन्नति कर रही है। जिस सत्ता की पुष्टि और उन्नति में ईश्वर ने अपने क़ानून के अक्षर अङ्कित कर दिये हैं और प्रत्येक समय में ऐसा करता चला आ रहा है यह सत्ता मनुष्य जाति की सत्ता है।

पिछली शताब्दी के एक बुद्धिमान ने मनुष्य जाति की व्याख्या की है कि "वह एक मनुष्य है, जो सदा जीवित रहता और सीखता है।" व्यक्तियां नष्ट हो जाती है, परन्तु जितनी सचाई उन्होंने मालूम की है और जितनी भलाई उनसे बन आई है, वह उनके साथ नहीं मर जाती और जो लोग उनकी चिताओं (कबरों) पर से गुजरते हैं, वे उससे लाभ उठाते हैं और मनुष्य जाति उसका संग्रह करती जाती है।

आज हममें से प्रत्येक मनुष्य ऐसे संस्कार और वासनाओं के वायुमन्डल में उत्पन्न होता है, जो हमसे पहिले गुजरी हुई मनुष्य जाति ने बड़े परिश्रम से सञ्चित किये थे और हममें से प्रत्येक (चाहे अज्ञात दशा में ही सही) एक न एक तत्व (अणु) आनेवाली मनुष्य जाति का अपने साथ लाता है। मनुष्य जाति का शिक्षा भवन उन पूर्वीय मीनारों के सदृश निर्माण होता है, जिन पर प्रत्येक पथिक एक पत्थर लगा जाया करता था। हम लोग एक सामुद्रिक पथिक के समान हैं जो बराबर यात्रा करते जाते हैं, इसलिए कि जैसा हमारा प्रारब्ध हो गया है, अपनी व्यक्तिगत शिक्षा को किसी और जगह पूरा करें। परन्तु मनुष्य जाति की शिक्षा जिसकी झिलमिलाहट हममें से प्रत्येक में दीख पड़ती है, धीरे धीरे पर उन्नति करते हुए और क्रमशः स्वयं मनुष्य जाति के भीतर से प्रकट होती जाती है।

मनुष्य जाति एक शब्द है, जो ईश्वर के साथ रहता है।

ईश्वर का आत्मा इसको फलित करता और इसके भीतर कभी एक मनुष्य द्वारा और कभी किसी जाति को साधन बना कर यथा समय अधिक पवित्रता और उत्कृष्टता से अपना प्रकाश दिखाता है। एक वृत से हट कर दूसरे वृत पर आती है, एक विश्वास को छोड़ कर दूसरा विश्वास ग्रहण करती है और इस प्रकार क्रमशः मनुष्य जाति को अपने जीवन, अपने उद्देश्य अपने ईश्वर और उसके क़ानून का चिन्तन और ज्ञान दिन बदिन अधिक होता जाता है। मनुष्य जाति ईश्वर का अवतार है, जो लगातार इस संसार में अपनी लीला दिखाता है।

जिस प्रकार ईश्वर एक है, उसी प्रकार उसका क़ानून भी एक है। किन्तु हम उसको उस संग्रह किये हुए अनुभव के अनुसार जो हमसे पहिली जातियां छोड़ गई हैं और उस विकास और बढ़ी हुई गति के अनुसार, जो परस्पर के मेल से जातियों, समुदायों और व्यक्तियों ने हस्तगत किया है, क्रमशः और अक्षरशः जान सकते हैं। कोई मनुष्य, कोई जाति और कोई समय यह नहीं कह सकता कि उसने कुल क़ानून को जान लिया है। धार्मिक क़ानून अर्थात् मनुष्य जाति के जीवन का कानून पूर्ण रीति पर उसी समय जाना जा सकता है, जब मनुष्य जाति में परस्पर पवित्र प्रेम का भाव उत्पन्न हो जावे। क्योंकि वे सारी शक्तियें जिनसे मनुष्य की प्रकृति बनी हुई है, संस्कार से कर्म में परिणत हो जायगी। मनुष्य जाति का वह भाग, जो शिक्षा में सबसे आगे बढ़ा हुआ है, अपनी उन्नति और

उत्कर्ष से एक अंश उस क़ानून का (जिसको कि हम जानना चाहते हैं) हम पर प्रकट कर रहा है। उसका इतिहास हमें ईश्वर की इच्छा का परिचय देता है और उसकी आवश्यकतायें हमारे कर्त्तव्य हमको बतलाती हैं। क्योंकि हमारा पहला कर्त्तव्य यह है कि हम मनुष्य जाति को उन्नति और उस सीमा पर पहुँचने में सहायता दें, जिसके लिए समय और ईश्वर ने उसको उद्यत और परिपक्क किया है।

अतएव ईश्वरीय क़ानून को जानने के लिए तुम्हें उचित है कि तुम केवल अपने अन्तःकरण से ही प्रश्न न करो, किन्तु मनुष्य जाति का अन्तःकरण और प्रसन्नता भी मालूम करो। यह जानने के लिए कि हमारे अपने कर्त्तव्य क्या हैं, हमें उचित है कि मनुष्य जाति की वर्त्तमान आवश्यकतायें मालूम करें। जैसे तुम्हारी शिक्षा और मनुष्य जाति की शिक्षा उन्नति कर रही है वैसे ही धार्मिक ज्ञान भी उन्नति कर रहा है।

निश्चय जानो कि शिक्षा के बिना तुम अपने कर्त्तव्य को नहीं जान सकते। यदि समाज तुम्हारी शिक्षा के मार्ग में बाधक होता है, तो तुम्हारी त्रुटियों का उत्तरदाता समाज है, न कि तुम। तुम्हारा उत्तरदायित्व उस दिन से आरम्भ होता है, जिस दिन तुम्हारे लिए शिक्षा का द्वार खोला गया, पर तुमने उससे लाभ उठाने में प्रमाद किया या जिस दिन ऐसे साधन तुम्हारे सामने प्रस्तुत किए गये, जिनसे तुम समाज की काया पलट कर सकते हो जिसने तुमको इतने समय तक मूर्खता में डाल

रक्खा, परन्तु उस अवसर से लाभ उठाने में तुमने प्रमाद किया। तुम इसलिए अपराधी नहीं हो कि तुम मूर्ख हो, किन्तु तुम उस समय अपराधी हो, जब मूर्खता पर जमते हो। यद्यपि तुम्हारा अन्तःकरण तुम्हें बतला रहा है कि ईश्वर ने जो शक्तियां तुम्हें दी हैं, उनको उन्नत करना तुम्हारा धर्म है, परन्तु फिर भी तुम अपनी मननशक्ति को मन्द (सुस्त) और व्यर्थ (बेकार) पड़ा रहने देते हो। या जब तुम यह जानते हो कि ईश्वर तुम्हारे मन में कभी सत्य का प्रेम उत्पन्न करता, यदि उसके साथ ही वह तुम्हें सत्य की प्राप्ति के साधन न देता। तो भी सचाई के जानने का तुम उद्योग नहीं करते या उससे निराश हो जाते हो और सांसारिक शक्तियें अथवा वह मनुष्य जो सांसारिक शक्तियों के हाथ बिक चुका है (चाहे वह धर्म का अधिष्ठाता ही क्यों न बना हुआ हो) जो कुछ कह देता है उसको बिना परीक्षा किये सत्य मान लेते हो तो इस दशा में तुम अपराधी ठहरते हो।

ईश्वर, जो मनुष्य जाति का पिता और शिक्षक है, उस पर अपना क़ानून यथा समय और यथाधिकार प्रकट करता है। तुम मनुष्य जाति (जो तुम्हारी सजातीय कौन्सिल है) इतिहास से पूछो, किसी एक समय या सम्प्रदाय की परिमित सीमा में बद्ध न रहो, किन्तु प्रत्येक समय में जनसमुदाय की बहुसम्मति को देखो और जब कभी तुम मनुष्य जाति की सम्मति को अपने अन्तःकरण की शिक्षा से मिलता हुआ पाओ, समझ लो कि तुम सच्चाई पर पहुँच गये हो अर्थात् इस बात का विश्वास करो

क तुमने ईश्वरीय क़ानून की एक पंक्ति को पढ़ लिया है।

मेरा विश्वास यह है कि पृथिवीतल पर केवल मनुष्य जाति ही ईश्वरीय क़ानून का एक विशुद्ध अनुवाद है और मनुष्य जाति की बहुसम्मति से जहाँ वह मेरे अन्तःकरण की शिक्षा के अनुकूल हुई है, मैं उस परिणाम पर पहुँचा हूं, जिसको तुम्हारे कर्त्तव्य के रूप में अब मैं वर्णन करना चाहता हूं।

चौथा अध्याय

मनुष्य जाति की ओर हमारा कर्त्तव्य

तुम्हारा प्रधान धर्म जो देशकाल के विचार से प्रधान नहीं, किन्तु अपनी स्वाभाविक उत्तमता से प्रधान है, जिसको बिना समझे तुम अपने विशेष धर्मों का पूर्ण रीति पर पालन नहीं कर सकते, वह कर्त्तव्य है, जो तुम्हारी मानसिक वृत्ति को मनुष्य जाति की ओर आकर्षित करता है। तुम्हारे और भी कई विशेष धर्म हैं। यथा-नागरिकधर्म, प्रजाधर्म, पितृधर्म, पतिधर्म, पुत्रधर्म और शिष्यधर्म इत्यादि, जो निस्सन्देह अत्यन्त पवित्र और अखण्डनीय हैं और जिनका सविस्तार वर्णन मैं अभी तुमसे करनेवाला हूं। परन्तु जो वस्तु इन धर्मों को पवित्र और अखण्डनीय बनाती है, वह वही उद्देश्य और वही धर्म है जो तुम्हारी मानुषी प्रकृति से उत्पन्न होता है।

तुम पिता या गुरू इसलिए बनाये गये हो कि लोगों को ईश्वरपूजा और उसकी आज्ञा पालन की शिक्षा दो, तुम नागरिक और देशवासी इसलिए हो कि एक परिमित भाग के

परिगणित मनुष्यों की सहायता और संयोग से (जिनके साथ एक भाषा बोलने, एक प्रकार की रुचि एवं रीति, नीति रखने के कारण तुम्हारा पहिले से साधर्म्य है) इस योग्य हो जाओ कि मनुष्य मात्र के हित के लिए, जो इस समय वर्तमान है, या भविष्य में होंगे, प्रभावजनक काम कर सको। जो काम इतना बड़ा है कि यदि उसमें सामाजिक या सामूहिक बल की सहायता न हो तो तुम अकेले कुछ नहीं कर सकते।

जो लोग तुम्हें धार्मिक शिक्षा देने का अभिमान करते हैं, किन्तु साथ ही तुम्हारे धर्म को उन कर्त्तव्यों पर परिमित करते हैं जो तुम्हारे कुटुम्ब और देश से सम्बन्ध रखते हैं, वे न्यूनाधिक तुम्हें एक बड़ी सीमा तक स्वार्थ की शिक्षा देते हैं, जो दूसरों को और स्वयं तुमको भी हानि पहुँचानेवाली है। (कुटुम्ब और स्वदेश ये दोनों) उन दो छोटे वृत्तों के सदृश हैं, जो एक ऐसे बड़े वृत्त के मध्य में खींचे जावें जिसमें कि वे दोनों आ सकते हैं। ये दोनों (उस जीने की दो सीढ़ियाँ हैं जिस पर कि हमको चढ़ना है और यह सच है कि इनके बिना हम नहीं चढ़ सकते। परन्तु इन्हीं पर चढ़ कर बैठ रहना यह भी हमको अभीष्ट नहीं।)

तुम मनुष्य हो, या दूसरे शब्दों में यह कहो कि ऐसी सृष्टि हो जो मानसिक आत्मिक और प्राकृतिक उन्नति केवल एकता के द्वारा सम्पादन कर सकती है और जो ऐसी उन्नति है कि कोई उसकी सीमा निर्धारण नहीं कर सकता।

मनुष्य जातीय जीवनोद्देश्य के विषय में जो कुछ अब तक हमें मालूम हुआ है, वह यही है। ये ही वे धर्म हैं, जिनसे मनुष्य की प्रकृति बनती है और यही वे लक्षण हैं, जो मनुष्य को अन्य प्राणियों से विशिष्ट बनाते हैं और उसमें बीज रूप से स्थापित किये गये हैं, जिनको पुष्पित और फलित करना मनुष्य का काम है। तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन की प्रवृत्ति इस ओर होनी चाहिये कि अपनी इन स्वाभाविक शक्तियों को क्रमशः और नियमपूर्वक बढ़ने का अवसर दो और इन्हें काम में लाओ। यदि तुम इनमें से किसी एक शक्ति को भी किसी समय आप दबाते हो या किसी अन्य को उसके दबाने का अवसर देते हो तो तुम वास्तव में मनुष्य-पदवी से गिर जाते हो और अपने जीवन के ईश्वरीय क़ानून को तोड़ते हो। जिन शक्तियों से कि मनुष्य की प्रकृति बनी है, जब तुम उनमें से किसी को भी चाहे अपने में चाहे दूसरों में दबाते हो, या उनका दबाया जाना स्वीकार करते हो, निस्सन्देह तब तुम मनुष्यता का अनादर करते हो। ईश्वर की यह इच्छा नहीं है कि तुम उसके क़ानून का एक दूसरे के विरुद्ध प्रयोग करो। यदि ईश्वर की इच्छा ऐसी होती है तो वह तुमको सहवासी और सहयोगी न बनाता। तुम्हारी सहवासिता और सहयोगिता सिद्ध कर रही है कि तुम जातीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाये गये हो।

यद्यपि तुम अपने अल्पजीवन में अपनी परिमित शिक्षा

और योग्यता से इस ईश्वरीय इच्छा के संकेत मात्र को जान सकते हो तथापि मनुष्य जाति की सत्ता वंश परम्परा के कारण (जो सन्तान रूप से फैलती है) अनादि है। उसका ज्ञान भी इस कारण अनादि है कि उसमें सम्पूर्ण अङ्ग यथा समय और यथा स्थान उस ज्ञान के प्रचार में सहायता करते हैं। इसलिए ईश्वर की इस अनन्त सृष्टि में केवल मनुष्य जाति ही इस ईश्वरीय इच्छा को प्रकट करने, उपयोग में लाने और उसके प्रकाश को बढ़ाने के योग्य है।

अतएव ईश्वर ने तुमको जीवन इसलिए प्रदान किया है कि तुम उसको मनुष्य जाति के हित में लगाओ और अपनी व्यक्तिगत शक्तियों को जातिगत शक्तियों के विकास का साधन बनाओ। जिस प्रकार एक बीज अपनी जाति की उन्नति के लिए अपने को गला देता है, उसी प्रकार तुम भी अपनी जातीय उन्नति के लिए स्वार्थत्याग कर अपने को निछावर कर दो। तुम्हारा धर्म है कि तुम अपने आपको तथा दूसरों को शिक्षा दो, स्वयं योग्य बनने एवं दूसरों के योग्य बनाने का यत्न करो।

यह सच है कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है, किन्तु वह सब मनुष्यों का (जो इस पृथिवी पर निवास करते हैं) आत्मा है। ईश्वर उन सब जातियों के जीवन में है जो हो चुकी हैं, हैं या होंगी। उसकी सत्ता और उसके नियमों तथा अपने कर्त्तव्यों के विषय में जो सिद्धान्त मनुष्य जाति ने निश्चित किये हैं, पिछली जातियां क्रमशः उनका संशोधन करती चली आई हैं

और आगे की जातियां भी बराबर उसी प्रकार करती चली जायेंगी। जहां कहीं ईश्वरीय सत्ता अपना प्रकाश करे, तुम्हारा धर्म है कि वहीं उसकी पूजा करो और उसकी ज्योति चमकाओ। सारा विश्व उसका मन्दिर है और इस मन्दिर को अपवित्र करने का पाप उस मनुष्य के माथे पर रहेगा जो उसकी पवित्र इच्छा के विरुद्ध संसार में कोई काम होता हुआ देख कर चुप बैठा रहेगा।

यह कथन युक्ति युक्त नहीं है कि हम निर्दोष हैं, दूसरे यदि पाप करते हैं तो हमारा इसमें क्या दोष ? जब तुम अपने समीप या सम्मुख पाप होता हुआ देखते हो और उसके विरुद्ध चेष्टा नहीं करते तो तुम अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। क्या तुम सत्य और न्याय का अनुगामी अपने को कह सकते हो, जब कि तुम देखते हो कि तुम्हारे सजातीय भ्राता पृथिवी के (जो हम सब की माता है) किसी अन्य भाग में भ्रान्ति या अविद्या में पड़े अपना जीवन नष्ट कर रहे हैं और तुम उनको उठाने के लिए कुछ सहारा नहीं देते ?

तुम्हारे सजातीय भ्राताओं के नित्य आत्माओं में ईश्वर का प्रकाश धुंधला हो गया है। ईश्वर की इच्छा तो यह थी कि उसकी उपासना उसके आज्ञा-पालन द्वारा की जावे, परन्तु तुम्हारे आस पास उसके क़ानून को तोड़ा जा रहा है और उसकी अन्यथा व्याख्या की जा रही है। उन लाखों मनुष्यों को (जिन पर ईश्वर ने अपनी इच्छा के पूरा होने का तुम्हारे

समान भरोसा किया है) मनुष्योचित अधिकारों से वञ्चित किया जा रहा है और तुम चुपचाप बैठे हो। क्या इस पर भी तुम यह कहने का साहस कर सकते हो कि तुम उस पर विश्वास रखते हो ?

एक जाति चाहे वह यूनानी हो या पोलैण्ड की रहनेवाली इटालियन हो या सुकेसिया में बसनेवाली अपने देश और स्वतन्त्रता का झण्डा उठाती और लड़ती है, विजय प्राप्त करती या कट मरती है। इसका क्या कारण है कि इन लड़ाइयों का हाल सुन कर तुम्हारा दिल धड़कने लगता है, उनकी विजय में तुम्हें हर्ष होता और उनकी पराजय तुमको उदास कर देती है ? पृथिवी के किसी दूर और अपरिचित भाग में एक मनुष्य निकलता है और जब कि सारा संसार मौनावलम्बन किये हुए हैं; वह कुछ ऐसे भावों या विचारों को प्रकट करता है, जिन्हें वह अपने आत्मा से सत्य समझता है। बड़े कष्ट सह कर भी वह अपने सिद्धान्त पर आरूढ़ रहता है। जेल जाना और फांसी पर चढ़ना स्वीकार करता है पर अपने उद्देश्य से मुंह नहीं मोड़ता। तुम किस लिए उसकी प्रतिष्ठा करते और उसे पवित्र और पूजनीय समझते हो ? क्यों तुम उसका स्मारक बनाते और अपनी सन्तान को उसकी पूजा का उपदेश करते हो ? क्या कारण है कि तुम यूनान के इतिहास में देशभक्ति की कथाओं को बड़ी उत्कण्ठा से पढ़ते हो और साभिमान उन कथाओं को अपनी सन्तान के सम्मुख वर्णन करते हो ?

मानों वे घटनायें तुम्हारे पूर्वजों के इतिहास से सम्बन्ध रखती है।

यूनानियों के वे कीर्त्ति-स्तम्भ जिनकी तुम आज प्रशंसा करते हो, दो हज़ार वर्ष के प्राचीन हैं और सभ्यता के ऐसे समय से सम्बन्ध रखते हैं, जो तुम्हारी सभ्यता से अत्यन्त विलक्षण है। जिन मनुष्यों को तुम अभी तक धर्म पर प्राण देनेवाले (शहीद) कह कर पुकारते हो, सम्भव ही क्या किन्तु निश्चय है कि उन्होंने किसी ऐसे धर्म पर प्राण दिये हों, जो तुम्हारा धर्म नहीं है, उनकी मौत ने उनकी व्यक्तिगत सारी आशाओं को निर्मूल कर दिया है। जिस जाति की विजय या पराजय पर तुम उसकी प्रसंशा या उसके लिए खेद करते हो वह एक अजनबी जाति हैं, जिससे तुम बिलकुल अपरिचित हो और वह एक ऐसी भाषा बोलती है कि जिसको तुम बिलकुल नहीं समझ सकते। फिर तुमको इसकी क्या परवा होनी चाहिए कि उस जाति पर पोप या सुलतान या क़ैसर या ज़ार शासन करता है या उस जाति के ऐकमत्य से वहाँ एक स्वतंत्र शासन पद्धति नियत हो गई है?

इसका कारण यह है कि तुम्हारे भीतर से एक आवाज निकलती है जो तुमसे कहती है कि वे मनुष्य जो दो हज़ार वर्ष पहिले हो चुके हैं, वे जातियाँ जो इस समय दूर दूर देशों में लड़ रही हैं और वह शहीद जिसने एक ऐसे विश्वास पर प्राण दे दिये, जिसके लिए तुम कभी प्राण

न देते, ये सब तुम्हारे भाई हैं, न केवल जाति और उत्पत्ति की समता से, वरन श्रम और उद्देश्य की एकता से भी। ये यूनानी अब नहीं रहे, किन्तु उनके कीर्ति-स्तम्भ शेष हैं। यदि ये न होते तो तुम धार्मिक और वैज्ञानिक उन्नति के इस वर्त्तमान पद पर न पहुँचते। मृत जातियां अपने रुधिर में जातीय स्वतन्त्रता के एक ऐसे भाव को पुष्ट कर रही हैं, जिसके लिए तुम भी अपना रक्त बहाने को तयार हो। उस शहीद ने जो किसी विश्वास की भेंट चढ़ा है, अपनी मौत से इस बात का विज्ञापन दे दिया है कि मनुष्य जिस बात को सत्य समझता है, उसके लिए अपना सर्वस्व, यहां तक कि जीवन भी, दे देना उसका धर्म है। कुछ परवा नहीं, यदि उसने और उन सब मनुष्यों ने, जिन्होंने इस प्रकार अपने अपने विश्वास पर अपने रुधिर की मुद्रा अङ्कित की है, पृथिवी तल पर अपनी व्यक्तिगत उन्नति की शृङ्खला को भग्न कर दिया। ईश्वर किसी और स्थान पर उनके लिए इसका प्रबन्ध कर देगा। किन्तु यह बड़े महत्व की बात है कि आनेवाली जाति तुम्हारे पुरुषार्थ और तुम्हारे आत्मोत्सर्ग से शिक्षा लेकर ईश्वरीय क़ानून को समझने, सत्य एवं न्याय का आदर करने में तुम्हारी अपेक्षा अधिक दृढ़ और बद्ध—परिकर हो जावे। यह भी कुछ कम लाभ नहीं है, कि मानव प्रकृति इन उदाहरणों से परिबोधित होकर इस संसार की अपेक्षा ईश्वरीय इच्छा या आज्ञा को अधिक समझेगी और उसका पालन करने

के योग्य होगी। चाहे कहीं पर मानव प्रकृति का संस्कार या उत्कर्ष हो, चाहे किसी स्थान पर कोई नई सचाई मालूम की आवे और चाहे किसी जगह पर शिक्षोन्नति और चरित्र शोधन में पादविन्यास किया जावे, जो पाद आगे बढ़ाया जावेगा और जो सत्यानुसन्धान किया जावेगा, वह शीघ्र या देर में समग्र मनुष्य जाति को अवश्य लाभ पहुँचावेगा।

तुम सब एक ही सेना के सैनिक हो। यह सेना एक ही अभीष्ट की सिद्धि के लिए भिन्न भिन्न मार्गों से प्रयाण (मार्च) कर रही है और बहुत सी पलटनों में बटी हुई है। तुम अभी तक केवल अपने समीप के सरदारों और सिपाहियों को देखते हो। वर्दियों की रङ्गारङ्गी, बोलियों की भिन्नता, वह अन्तर जो इन सेनाओं को एक दूसरे से पृथक करता है और वे पर्वत श्रेणियां जो उन्हें आन्तरित करती हैं, ये सब विक्षेप हैं; जिनके कारण तुम उस सचाई को भूल जाते हो और तुम्हारी वृत्तियां सब ओर से हट कर केवल तुम्हारे परिमित लक्ष्य पर आबद्ध हो जाती हैं। परन्तु तुमसे ऊपर एक है, जो सब पर दृष्टि रखता तुम्हारी समस्त चेष्टाओं और गतियों का निरीक्षक है। जिस उद्देश्य से यह लड़ाई रची गई है, वह केवल उसी को मालूम है और वही अन्त में तुम्हें एक कैम्प में एक झण्डे के नीचे एकत्र करेगा।

अब देखो उन दोनों विश्वासों में कितना अन्तर है जिनमें से एक हमारे आत्माओं के भीतर लहराता और भाविनी

सभ्यता का आदर्श होगा और दूसरा उन जातियों की सभ्यता का आदर्श था, जिनको अब हम प्राचीन पूर्वजों के नाम से स्मरण करते हैं और वैसा निकट सम्बन्ध उन बातों में पाया जाता है जो ईश्वरीय शासन और हमारे कर्तव्य के मध्य में हैं।

पहले मनुष्यों ने ईश्वर को अनुभूत तो किया, पर उसे समझा नहीं, न सृष्टि-नियमों के द्वारा उसको समझने का उन्होंने यत्न ही किया। उन्होंने उसके क्रोध को अनुभव किया प्रेम को नहीं। उन्होंने ईश्वर से अपने आत्मा को सम्बद्ध तो किया परन्तु वह सम्बन्ध उससे कुछ विशेष न था, जो अन्य अनित्य पदार्थों से वे रखते थे। यतः बाह्य पदार्थों की सीमा से बाहर निकलना उनके लिए कठिन था, अतः उनमें से एक में उन्होंने उसे व्यक्त करना चाहा। यथा—उस वृक्ष में जिस पर कि उन्होंने बिजली गिरते देखी थी, उस चट्टान में जिसके समीप उन्होंने अपना डेरा लगाया था, उस जन्तु में जो सबसे पहले उनके सामने आया। इसी का नाम धार्मिक इतिहास में स्थूल पूजा या भौतिक उपासना रक्खा गया है।

उस समय के लोगों को *अपने कुटुम्ब से परे या दूसरे* शब्दों में यों कहो कि अपने स्वरूप को एक विशेष रूप में उत्पन्न या परिवर्तन करने के सिवाय और किसी वस्तु का ध्यान न था, जो उनके कुटुम्ब या सम्बन्ध की सीमा में नहीं आते थे, वे सब अजनबी किन्तु प्रायः शत्रु समझे जाते थे। अपनी और अपने कुटुम्ब की सहायता करना यही उनकी

दया और सहानुभूति की सीमा थी।

परन्तु कुछ समय पाकर ईश्वर के विषय में जो विश्वास किया गया था, उसमें कुछ उन्नति हुई। लोग अपने विचारों को स्थूल पदार्थों से सूक्ष्म की ओर ले गये और इस परिणाम पर पहुँचे कि ईश्वर सब में है, और सब कुछ है। अब ईश्वर केवल कुटुम्ब का संरक्षक न रहा, किन्तु बहुत से कुटुम्बों, नगरों और जातियों का संरक्षक बन गया। इस प्रकार भौतिक पूजा दूर होकर मूर्ति पूजा अर्थात् बहुत से ईश्वरों की पूजा आरम्भ हुई। साथ ही सहानुभूति और दया की सीमा भी इसी परिमाण से बढ़ती गई। लोग समझने लगे कि उनका सम्बन्ध केवल उनके कुटुम्ब तक ही परिमित नहीं है, किन्तु उनका कर्त्तव्य इससे कुछ विशेष है। तब उन्होंने बहुत से मनुष्यों अर्थात् जाति की उन्नति के लिए उद्योग करना प्रारम्भ किया। परन्तु फिर भी सम्पूर्ण मनुष्य जाति की ओर अब तक ध्यान नहीं दिया गया। प्रत्येक जाति ने दूसरी जातियों को असुर, म्लेच्छ और असभ्य आदि उपनामों से सम्बोधित किया। उनको ऐसा ही समझतीं और छल या अत्याचार से उनकी स्वतन्त्रता हरने और उनको पीड़ित करने का यत्न करती थीं। हर एक जाति में उसी के अन्दर अजनबी अर्थात् असभ्य लोग रहते थे। लाखों ऐसे मनुष्य थे, जो नगरनिवासियों के धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित नहीं हो सकते थे और अत्यन्त ही निम्न कक्षा में समझे जाते थे, जैसे कि स्वतन्त्र रूपों में दास माने

जाते हैं। मनुष्य जाति के एक होने का संस्कार केवल एक ईश्वर की भावना से उत्पन्न हो सकता था। यद्यपि प्राचीन काल के विद्वान भी एक ईश्वर को मानते थे और हज़रत मूसा ने प्रकाश्य रीति पर इसकी सूचना की थी (यद्यपि वह एक ही जाति को ईश्वर की प्यारी जाति मानता था) तथापि यह उस समय तक कोई सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं हुआ, जब तक कि रोम के शासन का अन्त न होकर ईसाई मत प्रचलित न हुआ।

क्राइस्ट की शिक्षाओं में सबसे मुख्य और उच्चकोटि की यह दो परस्पर सम्बद्ध सचाइयाँ थीं, "ईश्वर एक है और सब मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं।" इन दोनों सचाइयों के प्रचार ने संसार की काया पलट दी और परस्पर सहानुभूति की सीमा पृथिवी के इस छोर से उस छोर तक बढ़ा दी।* मनुष्य के कर्तव्य जो कुटुम्ब और देश के प्रति थे, उनमें मनुष्य जाति के प्रति कर्तव्य और बढ़ गये। तब मनुष्य ने माना कि मनुष्य चाहे कहीं पर हो, उसका भाई है, जो उसी के समान अविनाशी आत्मा रखता है। और उसी के सदृश अपने स्रष्टा की ओर जाना उसका उद्देश्य है, तथा उससे प्रेम करना, उसको धर्म की शिक्षा देना और जब कभी आवश्यकता हो, उसकी सहा-

* ग्रन्थकार यूरोप का इतिहास लिख रहा है, अन्यथा भारतवर्ष में तो एक ईश्वर का विश्वास और ज्ञान उस समय भी था जब कि ईसाई मत के अनुसार सृष्टि के आरम्भ का समय माना जाता है।

(अनुवादक)

यता करना उस पर उचित ठहराया गया है।

इसके बाद पैग़म्बरों ने उन सच्चाइयों को अनुभव करके, जिनका बीज ईसाई धर्म में विद्यमान था, किन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने उन सच्चाइयों को या तो अन्यथा समझा या कृतघ्नता अनुसरण किया, यह उच्च कोटि के शब्द मुंह से निकालेः—

"जैसे हमारे एक शरीर में बहुत से अंग हैं और प्रत्येक अङ्ग का एक ही काम नहीं, ऐसे ही हम जो बहुत से हैं, क्राइस्ट में परिणत होकर एक शरीर हुये हैं और परस्पर एक दूसरे के अङ्ग हैं।" (पोलूस रसूल का पत्र रूमियों को बाब १२ आयत ४ व ५) और मेरी और भी भेड़ें हैं, जो इस भेड़ख़ाने की नहीं, आवश्यक है कि मैं उन्हें भी लाऊँ और वे मेरी आवाज़ सुनेंगी और एक ही गल्ला और एक ही गड़रिया होगा।" (यूहन्ना बाब १० आयत १६)

वर्त्तमान समय में भी अठारह सौ वर्ष के परिश्रम, अध्ययन और अनुभव के पश्चात् हमारा काम है कि इन बीजों को हरा भरा कर और इन सच्चाइयों को न केवल प्रत्येक व्यक्ति के लिए किन्तु ईश्वरीय शक्तियों के उस आदर्श के लिए जिसको हम मनुष्य जाति के नाम से पुकारते हैं, काम में लावें। हमें मनुष्यों को अभी तक केवल यही नहीं सिखलाना है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक अङ्गी है, जिस पर एक ही प्रकार से शासन होना चाहिये, किन्तु यह भी कि इस शासन पद्धति की पहिली धारा उन्नति है, अर्थात् यहां इस पृथिवी पर उन्नति करें, जहाँ अपनी

शक्ति के अनुसार ईश्वर की इच्छा को जानना और अपना उच्च जीवन बनाना हमारा कर्तव्य है।

हमें मनुष्य जाति को सिखलाना है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक अङ्गी के समान है, हम सब उसके अङ्ग हैं, अतएव उस अङ्गी की पुष्ट और वृद्धि के लिए परिश्रम करना और उसके जीवन को अधिक उपयोगी और उत्तम बनाना हम सब का कर्तव्य है। उन आत्माओं को भी उन्नत और पवित्र बनाना हमारा काम है, जो स्वयं उन्नति और पवित्रता के विरोधी हों। ईश्वरीय इच्छा इस पृथिवी पर मनुष्य जाति के परस्पर मेल मिलाप से ही पूर्ण हो सकती है, इसलिए अभी हमको यहाँ पर एक ऐसी एकता की स्थापना करना है, जो सर्वसाधारण की दशा को उन्नत करने वाली हो, जो भिन्न भिन्न भागों में विभक्त मनुष्यों को एक केन्द्र में लाने वाली हो और कुटुम्ब और देश दोनों को इस उत्तम और पवित्र उद्देश के लिए प्रेरित और प्रवृत्त करे।

इस प्रकार जगत-पिता ईश्वर एक क्रमबद्ध धार्मिक शिक्षा के द्वारा मनुष्य जाति को उन्नति की प्रेरणा कर रहा है और इस साम्प्रदायिक उन्नति पर हमारी व्यक्तिगत उन्नति निर्भर है। सामाजिक उन्नति के बिना तुम कदापि आशा नहीं कर सकते कि अपनी व्यक्तिगत दशा में (चाहे वह धार्मिक हो वा सांसारिक) कोई स्थिर उन्नति कर सको। किन्तु सच तो यह है कि तुम्हारी इच्छा भी हो, तब भी तुम अपने जीवन

को जातीय जीवन से पृथक नहीं कर सकते। तुम्हारा जीवन जातीय जीवन से ऐसा संयुक्त है, जैसा कि वृक्ष से उसकी शाखायें। उसी के जीवन से तुम जीते हो और उसी के लिए जीते हो। उन कतिपय व्यक्तियों को छोड़कर जो असाधारण शक्ति लेकर उत्पन्न हुई हैं, जिस प्रकार तुम्हारे शरीर चाहे वे कैसे ही बलवान् क्यों न हो, आसपास के दूषित वायु के प्रभाव से बच नहीं सकते, उसी प्रकार तुम्हारे आत्मा भी उन भौतिक प्रभावों से छूट नहीं सकते, जिनमें उनको स्थिति या गति करनी पड़ती है। तुम लोगों में कितने ऐसे हैं, जो यह जानकर भी कि उन्हें सताया जायगा, इस बात की चेष्टा करते हैं कि अपने बच्चों को एक ऐसे समाज में जहाँ मूर्खता या पक्षपात ने हर एक मनुष्य को चुप रहने या अपनी अपनी सम्मतियों के छिपा रखने पर बाधित कर रक्खा है, सदा सच बोलने की शिक्षा दें। तुममें कितने हैं जो उनको यह सिखलाने का यत्न करते हैं कि वह एक ऐसे समाज में जहाँ धन ही एक ऐसी शक्ति है, जो पूजा, गौरव और आदर के योग्य समझी जाती है, धन की उपेक्षा करें। तुममें कौनसी माता है, जो इस बात पर विश्वास रखती हुई कि क्राइस्ट ने मनुष्य जाति की भलाई के लिए अपनी प्रसन्नता से प्राण दिये थे, अपने बेटे को उसके गले से लिपट कर हर एक ऐसे काम से रोकना नहीं चाहती, जिससे उसके सजातीयों का हित किन्तु उसको अपने प्राण का भय है।

यदि तुम साहस करके कोई उत्तम शिक्षा भी दो तो क्या सारा समाज अपने सैकड़ों दुश्चरित्रों और हज़ारों बुरे उदाहरणों से तुम्हारी शिक्षा के प्रभाव को नष्ट नहीं कर देगा? तुम क्या ऐसी दशा में जब कि दुराचार का संक्रामक रोग चारों ओर फैला हुआ हो, अपने आत्मा को पवित्र रख सकते और उन्नति के मार्ग में उसको बढ़ा सकते हो? या यदि तुम्हारी सांसारिक दशा पर ही दृष्टि दी जाय तो क्या यह कभी उन्नति कर सकती है, जब तक तुम्हारी जातीय दशा में कुछ संशोधन न हो।

यहां इंगलैंड में जहां कि मैं लिख रहा हूं, प्रति वर्ष लाखों रुपया दान हो कर मनुष्यों के दुःख दूर करने में व्यय किया जाता है, परन्तु मनुष्यों के कष्ट दूर नहीं होते, प्रत्युत बढ़ते जाते हैं। लोगों का दान पुण्य इस आपत्ति को मिटा नहीं सका और यह आवश्यकता प्रति दिन सर्वसम्मति से स्वीकार की जा रही है कि संयुक्त उद्योग से इसका प्रतीकार किया जाय। उन देशों में, जो स्वतन्त्र शासकों के अधीन हैं, जिनमें कर और अनेक प्रकार के बन्धन केवल शासकों की इच्छा से लगा दिये जाते हैं, जिनकी सेनाओं, दुर्गों, प्रतिनिधियों और पेन्शन भोगियों का खर्च उतना ही बढ़ता जाता है जितना कि इस स्वायत्त शासन की आवश्यकता दिन बदिन अधिक हो रही है, ऐसे देशों में क्या तुम आशा कर सकते हो कि शिल्प और व्यवसाय लगातार उन्नति कर सकेंगे?

क्या तुम समझते हो कि यदि तुम्हारे अपने देश की शासन-

पद्धति और सामाजिक अवस्था सुधर जाय, तो केवल यही पर्याप्त होगा? नहीं, कदापि नहीं। इस समय कोई जाति केवल अपनी उपज पर निर्वाह नहीं कर सकती। तुम अनेक पदार्थों का विनिमय (तबादिला) करते हो, बहुत सी वस्तुयें अपने देश की दूसरे देशों में भेजते हो और बहुत सी उन देशों की अपने देश में मँगाते हो। यदि कोई अजनबी जाति, जो तुम्हारे देश का माल मँगाती है, दरिद्र हो जाय और ख़र्च करने वालों की संख्या उसमें घट जाय तो क्या ऐसी दशा में तुम्हारे लिए एक मण्डी बन्द न हो जायगी। यदि कुप्रबन्ध के कारण किसी अन्य देश का वाणिज्य बन्द हो जाता है, तो वह तुम्हारे देश को भी हानि पहुँचाता है। अमेरिका और दूसरे देशों की उपज की न्यूनता इङ्गलैण्ड में दुर्भिक्ष डाल देती है। आज कल साख कोई जातीय नियम नहीं है, किन्तु यूरोप एक अबाध आईन है।

इसके अतिरिक्त तमाम हकूमतें तुम्हारे जातीय संशोधन के विरुद्ध हो जायेंगी, क्योंकि राजन्यवर्ग ने पहिले ही यह समझ कर कि सामाजिक प्रश्न आज कल साधारण प्रश्न हो गया है, आपस में मेल जोल पैदा कर लिया है।

यूरोप की तमाम जातियों और फिर उनके द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य जाति की उन्नति, उपकार और एकता में तुम अपनी उन्नति की भी आशा कर सकते हो।

इसलिए मेरे भाइयो! अपने कर्तव्य को समझ कर और

अपने हित को लक्ष्य में रख कर कभी इस बात को न भूलो कि तुम्हारा मुख्य उद्देश्य अर्थात् वह कर्तव्य जिसको पूरा किये विना तुम कभी अपने उस कर्तव्य को, जो तुम्हारा देश नगर और कुटुम्ब के प्रति है, उचित रीति पर पूरा नहीं कर सकते, वही है जो सम्पूर्ण मनुष्य जाति के प्रति तुम्हारा औचित्य है।

जिस प्रकार ईश्वर के नियम और उसकी दया सम्पूर्ण मनुष्यों के लिए है, उसी प्रकार तुम्हारे वचन और कर्म भी मनुष्य मात्र के लिए होने चाहियें। चाहे तुम किसी देश विशेष में रहते हो, किन्तु जहां कोई ऐसा मनुष्य मिले, जो सत्य, न्याय और धर्म के लिए लड़ रहा हो, तुम उसको अपना भाई समझो। चाहे कहीं पर किसी मनुष्य को भूल, अन्याय या अत्याचार के कारण कष्ट पहुँच रहा हो, वह तुम्हारा भाई है। स्वाधीन हो या पराधीन तुम सब भाई हो, तुम्हारी जड़ एक है, एक ईश्वरीय नियम के तुम सब अधीन हो और एक ही अभीष्ट स्थान पर तुम सबको पहुँचना है, अतएव तुम्हारा धर्म और तुम्हारे कर्म एक होने चाहियें, क्योंकि एक ही झण्डे के नीचे होकर तुम्हें लड़ना है। यह मत कहो कि "जो भाषा हम बोलते हैं, वह एक नहीं" हमारे कर्म, हमारी इच्छायें, हमारा जन्म और हमारा मरण एक ऐसी भाषा है, जिसको सब जानते और समझते हैं। यह भी न कहो कि "मनुष्य जाति असंख्य और असीम है और हम अल्प और निर्बल।"

ईश्वर बल का नहीं देखता, किन्तु भाव को जांचता है। (मनुष्य जाति को प्यार करो। जब तुम कोई काम अपने कुटुम्ब या देश की सीमा में आवद्ध होकर करने लगो तो पहिले अपने आत्मा से पूछो कि "यदि यही काम जो मैं अब करने लगा हूं, सारे मनुष्य करते और सब मनुष्यों के लिए किया जाता तो यह मनुष्य जाति के लिए हितकर होता व अनिष्टकर ?" यदि तुम्हारा आत्मा तुम्हें बतलावे कि यह अनिष्टकर होगा, तो कदापि उसका अनुष्ठान न करो, चाहे तुम्हें यह भी विश्वास हो कि इस कर्म का परिणाम तुम्हारे देश या कुटुम्ब के लिए सद्यः हितकर होगा।)

तुम इस सार्वजनिक धर्म के उपासक बनो, जातीय ऐक्य और समता का उपदेश करो, जिसको आज कल सिद्धान्त रूप से तो माना जाता है, किन्तु आचरण से नहीं। जहां कहीं और जितना तुम ऐसा कर सकते हो, ऐसा ही करो। इससे अधिक न ईश्वर तुमसे चाहता है और न मनुष्य आशा कर सकता है। किन्तु मैं तुम्हें बतलाता हूं कि यदि तुम दूसरों को ऐसा न बना सको और केवल आप ही ऐसे बन जाओ तब भी तुम मनुष्य जाति की सेवा करते हो। ईश्वर शिक्षा की सीढ़ियों का नापता है, वह मनुष्य जाति को धर्मात्माओं की संख्या और अभिरुचि के अनुसार बढ़ने देता है और जब तुम में धर्मात्मा, परोपकारी अधिक होंगे तो ईश्वर जो तुम्हें गिनता है आप तुम्हें बतलायेगा कि तुम्हें क्या करना चाहिये।

पांचवां अध्याय

अपने देश के प्रति हमारा कर्त्तव्य

म्हारा मुख्य कर्तव्य जो अभी मैंने बतलाया, मनुष्य जाति की सेवा करना है। तुम पहले मनुष्य बनाये गये हो, नागरिक या कुटुम्बी पीछे बनते हो। यदि तुम अपने सजातीय वंश को अपने प्रेम का पात्र नहीं बनाते, यदि तुम इस वंश की एकता में, जो ईश्वरीय एकता का परिणाम है और उस जातीय समता में जो अन्ततः इस एकता को कार्यरूप में परिणत करेगी, विश्वास रखते हो, परन्तु उस विश्वास की साक्षिता नहीं देते, यदि कहीं पर तुम्हारा कोई सजातीय कष्ट पा रहा है, या अन्याय और अत्याचार के द्वारा मनुष्य के स्वभाव का अनादर किया जा रहा है और तुम शक्ति सम्पन्न होकर उस दीन विपद् ग्रस्त की सहायता के लिए उद्यत नहीं होते और इस बात को अनुभव नहीं करते कि दुःखित और पीड़ित मनुष्यों की सहायतार्थ लड़ने के लिए तुमको भेजा गया है, तो तुम अपने जीवनोद्देश्य के विपरीत आचरण करते हो और उस धर्म को नहीं समझते जो भविष्य

में मनुष्यों का आदर्श और पथ प्रदर्शक होगा।

किन्तु तुम अकेले मनुष्य जाति की धार्मिक उन्नति और सामाजिक हित के लिए क्या कर सकते हो? तुम अधिक से अधिक अपने विश्वास को प्रकट कर सकते हो, परन्तु उससे तुम्हारे समाज को कुछ लाभ न होगा। या यह कर सकते हो कि किसी आकस्मिक अवसर पर किसी अपने विदेशीय भाई से सहानुभूति प्रकट करो या उसके विषय में उदारता से काम लो, इससे अधिक और तुम कुछ नहीं कर सकते। परन्तु, आने वाले समय का आदर्श केवल मौखिक सहानुभूति और हार्दिक उदारता से कहीं उच्चतर होगा! हमारा भविष्य आदर्श प्रेम है, जो कि एक ही पवित्र उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य मात्र के संयोग और साम्य को चाहता है और यह उद्देश्य उस केवल हार्दिक या वाचिक सहानुभूति से उतना ही उच्चतम है, जितना कि वह मन्दिर जो तुम सब के मिश्रित उद्योग से बने, उस झोपड़ी से विशेष महत्व रखता है जिसको तुम में से कोई एक कहीं से ईंट और कहीं से गारा लाकर बनाता है।

किन्तु तुम्हारा कथन है कि तुम मिल कर कोई काम नहीं कर सकते, क्योंकि तुम्हारी भाषायें, तुम्हारे रस्मोरिवाज, तुम्हारी इच्छायें और तुम्हारी योग्यतायें एक दूसरे से भिन्न और पृथक पृथक् हैं। एक मनुष्य किसी गिनती में नहीं और मनुष्य जाति असंख्य और अपरिमित है। बृटानिया का मल्लाह जब अपनी नाव को समुद्र में डालता है तब ईश्वर से यह प्रार्थना

करता है कि हे ईश्वर! मेरी नाव इतनी छोटी और तेरा समुद्र इतना विशाल है, मेरी सहायता कर। यह प्रार्थना तुम में से प्रत्येक की दशा को ठीक ठीक व्यक्त करती है, यदि तुम ऐसे साधनों को सञ्चित न कर लो, जिनसे तुम्हारे काम करने की शक्ति और सीमा किसी विशेष देश, काल और वस्तु में परिछिन्न और परिमित न रहे।

ईश्वर ने उन साधनों का प्रबन्ध तुम्हारे लिए इस रीति पर किया है कि तुम्हें किसी देश विशेष का निवासी बना दिया। जिस प्रकार एक चतुर ओवरसियर कारीगरों को उनकी भिन्न भिन्न योग्यताओं के अनुसार भिन्न भिन्न कामों में लगा देता है उसी प्रकार ईश्वर ने मनुष्य जाति को इस पृथिवी पर भिन्न भिन्न समुदायों में विभक्त कर दिया और यही जातीयता (नैशनैलिटी) का बीज है। यद्यपि बुरी हकूमतों ने ईश्वरीय नक़शे को बिगाड़ दिया है, तो भी कम से कम जहां तक यूरोप का सम्बन्ध है, तुम बड़ी बड़ी नदियों के तटों और ऊँचे ऊँचे पहाड़ों के टीलों एवं दूसरे भौगोलिक चिन्हों से स्पष्ट रीति पर उसकी परीक्षा कर सकते हो। उन्होंने अपने विजय-लाभ से या लालच से दूसरों की न्यायोपार्जित शक्ति की भी ईर्ष्या करके इस ईश्वरीय चित्रपट को ऐसा बिगाड़ा है कि यदि इंगलैंड और फ्रांस को निकाल दें तो शायद एक देश भी ऐसा न होगा, जिसकी वर्त्तमान सीमायें उस चित्र पट के अनुसार मिलेंगी।

इन हकूमतों ने सिवाय अपने कुटुम्बों और सम्बन्धियों के

और किसी देश को नहीं जाना और न जानती हैं। स्वार्थ परायणता इसी का नाम है, परन्तु ईश्वर की इच्छा एक दिन अवश्य पूरी होगी। जो कृत्रिम और मनमाने विभाग इन ऐश्वर्य लोलुप राष्ट्रों ने किये हुये हैं, उनके स्थान में ईश्वरीय प्राकृतिक विभाग स्थापित होंगे और जातियों की नैसर्गिक इच्छायें पूर्ण होंगी। यूरोप का नक़शा नए सिरे से बनाया जायगा। स्वतन्त्र राष्ट्र नष्ट होकर प्रजातन्त्र राष्ट्र स्थापित होंगे, जिनकी सीमायें उदार और प्रजा हितैषी पुरुषों की सम्मति से नियत होंगी। सब देश और सब जातियां परस्पर मित्रता और एकता के सूत्र में बन्ध जायंगी और जब मनुष्य जाति का संयुक्त काम अर्थात् मनुष्य मात्र का हित सम्पादन करना प्रत्येक का उद्देश्य होगा, तब शान्ति की धारा प्रेम के स्रोत से निकल कर संसार को पवित्र करेगी। उस समय, जब कि तुम में से हर एक को लाखों ऐसे मनुष्यों की शक्ति और सहानुभूति का भरोसा होगा, जो एक ही भाषा बोलते होंगे, जिनका अभीष्ट एक ही होगा और एक ही जातीय पुस्तक से जिनको शिक्षा मिलेगी, तुम उचित रीति पर यह आशा कर सकते हो कि एक मनुष्य भी अपने व्यक्तिगत कामों से सम्पूर्ण मनुष्य जाति को बहुत कुछ लाभ पहुँचा सकता है।

प्रिय बन्धुवर्ग! अपने देश से प्यार करो, हमारा देश ही हमारा घर है, जो ईश्वर ने हमको दिया है, उसमें एक बहुत बड़ा कुटुम्ब है, जो हम से प्यार करता है और हम भी उसे

प्यार करते हैं, जिसके साथ औरों की अपेक्षा हमें अधिक सहानुभूति है और जिसकी बोली को हम बिना रुकावट के शीघ्र समझ लेते हैं। जो ईश्वर ने हमको एक स्थान पर एकत्रित किया है, इसलिए उसने प्रायः हमारी रुचि और प्रकृति भी एक सी बनाई है, जो किसी कार्य विशेष के सम्पादन के लिए बहुत ही उपयुक्त है। हमारा देश हमारा संयुक्त कार्यालय है, जहां से हमारे काम की पैदावारें संसार के लाभ के लिए भेजी जाती हैं, जिसमें प्रेम के औज़ार, जिन्हें हम मिल कर काम में लाते हैं, सब संग्रह कर दिये गये हैं, और हम सिवाय इसके कि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलें और आप अपनी शक्ति को घटायें, उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकते।

जब हम सच्चे मन से अपने देश की सेवा करते हैं, तो हमारी वह सेवा मनुष्य जाति के लिए है। हमारा देश उस डंडी की टेक के समान है, जो हमें सब के लाभ के लिए उठानी है। यदि हम इस टेक को छोड़ देते हैं तो हम न केवल मनुष्य जाति के लिए किन्तु अपने देश के लिए भी अपने अस्तित्व को अनुपयोगी सिद्ध करते हैं। पहले इसके कि लोग उन जातियों के साथ मित्रता कर सकें, जिनसे मनुष्य जाति बनी है, यह आवश्यक है कि वे अपनी कोई जातीय सत्ता रखते हों। सच्ची मित्रता केवल बराबर वालों में ही हो सकती है। अपनी जातीय सत्ता का परिचय देने के लिए सिवाय अपने

देश के और क्या हमारे पास साधन है।

मनुष्य जाति एक बड़ी सेना है, जो अज्ञात देशों पर अधिकार करने के लिए प्रबल और चतुर शत्रुओं के विरुद्ध प्रयाण (मार्च) कर रही है। भिन्न भिन्न जातियाँ इस सेना की बहुत सी अनीकिनी (रेजमेन्टें) हैं, जिनमें से प्रत्येक के लिए एक निर्दिष्ट स्थान और कोई विशेष काम नियत किया गया है। संयुक्त विजय इस बात पर निर्भर है कि अपना अपना काम सब उचित रीति पर सम्पादन करें। युद्ध के प्रबन्ध में विघ्न मत डालो और जो झंडा ईश्वर ने तुमको दिया है, उसे न छोड़ो। चाहे तुम कहीं पर हो, किसी जाति में उत्पन्न हुये हो, आवश्यकतानुसार सदा उस जाति की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने को उद्यत रहो। परन्तु इस रीति से लड़ो कि जो रक्त तुम बहाओ, वह न केवल तुम्हारी किन्तु तुम्हारे देश की कीर्ति को बढ़ाने वाला हो। "मैं" का शब्द कहना छोड़ दो और उसके स्थान में 'हम' उत्तम पुरुष के बहुवचन का प्रयोग करो। तुममें से प्रत्येक को इस बात की चेष्टा करनी चाहिये कि वह अपने देश का अवतार हो जाय, वह अपने को स्वदेश वासियों का भारवाही और उत्तरदायी समझे और अपना सर्वस्व देश और जाति के लिए निछावर कर दे।

ईश्वर ने जो सेवा मनुष्य जाति की तुम्हारे सुपुर्द की है, तुम्हारा देश उस सेवा का पहला कार्यक्षेत्र है। जिनका शरीर मातृ भूमि की मिट्टी से क्या बना है, उन सब की योग्यता और

शक्ति इस मातृ सेवा की पूर्ति में लगनी चाहिए। देश वास्तव में वही है, जिसके निवासी स्वतन्त्र और आपस में बराबर हों और जो एक संयुक्त उद्देश के लिए काम करना अपना कर्तव्य समझते हों। देश लोगों के समूह जा नाम नहीं है, किन्तु सामाजिक संगठन (एसोसियेशन) का नाम देश है। अतएव जहां मनुष्यों के बराबर सामाजिक अधिकार नहीं हैं, वह देश नहीं है। जहां जाति भेद, वैषम्य और किन्हीं के विशेष अधिकार पाये जाते हैं, वास्तव में वह भी देश नहीं है। जहां किसी मनुष्य या समुदाय की शक्ति या योग्यता को बढ़ाने से रोका गया या काम करने के अयोग्य किया गया है, जहां कोई सार्वजनिक उद्देश नहीं हैं जिसको सब देशवासी स्वीकार करते और उसकी सिद्धि के लिए यत्नशील हो, वहां वास्तव में कोई जाति नहीं है। उन्हें एक अनघड़ और अशिक्षित मनुष्यों का समूह समझना चाहिये, जिन्हें आकस्मिक संयोग ने इकट्ठा कर दिया है और वही फिर उनको पृथक् भी कर सकता है। उस प्रेम के लिए, जो तुम अपने देश से रखते हो, तुम्हें उचित है कि व्यक्तिगत विशेष अधिकारों और जातिगत विषमता को शान्ति से किन्तु लगातार परिश्रम और यत्न करके उस मातृ भूमि से निकाल दो, जिससे कि तुम्हारा शरीर बना है।

केवल एक ही नैसर्गिक अधिकार है और वह बुद्धि का है, जो मनुष्य मात्र को हिताहित की सूचना देता है। यह अधिकार ईश्वर प्रदत्त है और यदि तुम उसको मानते और उसकी आज्ञाओं

का अनुसरण करते हो तो वास्तव में तुम अपनी बुद्धि पर भरोसा करते और अपनी इच्छा के अनुकूल चलते हो। इसके सिवाय और जितने अधिकार हैं, चाहे वे पैतृक हों या वंशगत या अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुये हों, जो सब के बराबर नहीं हैं, वे सब मनुष्य जाति पर एक प्रकार का दबाव या अत्याचार है, तुम्हारा औचित्य है कि तुम उनका विरोध करो और इस जातिगत विषमता को मिटा दो।

अपने देश को तुम अपनी मातृ पूजा का मन्दिर समझो, जिसकी चोटी पर ईश्वर और नींव में उन मनुष्य की जाति है, जो सब आपस में बराबर हैं। यदि तुम अपने देश की और अपनी अप्रतिष्ठा करना नहीं चाहते, तो तुम्हारे लिए और कोई सिद्धान्त या आदर्श न होना चाहिये। दूसरे आदर्श या उद्देश इसलिए हैं कि इस सर्वोपरि अभीष्ट को क्रमशः पुष्ट करते हुए तुम्हारे जीवन का लक्ष्य बना दें। इसलिए इस जातीय पाण्डुलिपि (नैशनल कोड) के बनाने में तुम सबकी सहायता और सहानुभूति अपेक्षित है। जिन नियमों को जाति के समुदायों में से किसी एक समुदाय ने बनाया है, वह वास्तव में उसी समुदाय की इच्छाओं और आवश्यकताओं के प्रदर्शक हो सकते हैं, न कि सम्पूर्ण देश या जाति पर उनका प्रभाव पड़ सकता है।

नियम ऐसे होने चाहियें जो सर्वसाधारण की इच्छा को प्रकट करें और सब के हितकर हों, वे जातीय भावों की एक

मिश्रित ध्वनि हों, चाहे जाति ने मिलकर उनको बनाया हो या जाति की सम्मति से किसी व्यक्ति विशेष ने जब इस सेवा को तुम किन्हीं गिने चुने मनुष्यों के हाथ में दे देते हो, तो मानो जाति पर (जिस पर कुल समुदायों का अधिकार बराबर रहना चाहिए) तुम किसी समुदाय विशेष का आधिपत्य स्थापन करते हो।

देश केवल कोई भूभाग नहीं है, किन्तु उस भाव का नाम देश है, जो देश के नाम से उत्पन्न होता है और वह पवित्र भाव उस सहानुभूति से उत्पन्न होता है, जो सजातीयों में प्रकृति देवी ने स्थापित की है और जिसके बिना मनुष्य मस्तिष्क और बुद्धिवाला होकर भी इतर जन्तुओं से कुछ विशेषता नहीं रखता।

जब तक तुम्हारे भाइयों में एक भी ऐसा है कि जातीय जीवन के पोषण और वर्द्धन में उसकी सम्मति नहीं ली जाती, जब तक तुम में से एक मनुष्य भी अविद्या के अन्धकार में पड़ा हुआ है, जब कि दूसरे मनुष्य शिक्षा पाते हैं, जब तक एक ऐसा मनुष्य भी जो सब प्रकार योग्य और काम करने पर उद्यत है, केवल काम न मिलने के कारण दीन और दरिद्र बना है, तब तक कदापि यह मत समझो कि तुम्हारा भी कोई देश है, क्योंकि देश का अर्थ ही यह है कि जो सब का और सब के लिए हो।

शिक्षा, परिश्रम और सम्मति देने का अधिकार यही तीनों देश या जाति के बड़े स्तम्भ हैं। जब तक तुम उनका अपने परिश्रम और यत्न से सुदृढ़ रीति पर निर्माण न कर लो, तुम्हें मौन

हो कर नहीं बैठना चाहिये।

अपने जातीय अभ्युदय को दूसरी जातियों से कभी मत छिपाओ, किन्तु सर्वत्र अपने जातीय जीवन को उसकी वास्तविक शक्ति और सौन्दर्य में प्रकट करो। क्षुद्र आशयों और नीच भावों से तुम्हारा जातीय जीवन पवित्र होना चाहिये। जाति, उसका मूल और उसके धार्मिक सिद्धान्त, जो युक्ति और सर्व-सम्मति से सङ्गठित हुए हों, उस जीवन के पथ प्रदर्शक हों, उसकी शक्ति सब की संयुक्त शक्ति का केन्द्र और उसका उद्देश उस सेवा का पालन करना हो, जो ईश्वर ने उसको सौंपी है।

जब तक तुम मनुष्य जाति की प्राणपण से सेवा करते रहोगे तब तक तुम्हारा जातीय जीवन अमिट है।

छठां अध्याय

अपने कुटुम्ब के प्रति हमारा कर्त्तव्य

कुटुम्ब हृदय की जन्मभूमि है। कुटुम्ब में एक देवता है, जो सहानुभूति, समवेदना, मधुरता और प्रेम का गुप्त प्रभाव अपने में रखता है। जिस देवता के प्रताप से हमें अपने कर्त्तव्य बहुत या भारी और अपने कष्ट तीक्ष्ण या कटु मालूम नहीं होते। मनुष्य को इस पृथिवी पर जो सच्चा और अकृत्रिम सौख्य और दुःख से असंयुक्त सुख प्राप्त हो सकता है, वह कुटुम्ब का सुख है, जिसके लिए हमें इसी देवता का कृतज्ञ होना चाहिये। जिस मनुष्य को अपने दौर्भाग्य से इस देवता की पवित्र छाया में रह कर कुटुम्ब के शान्तिमय जीवन यापन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, उसके आत्मा पर दुःख की एक ऐसी काली घटा छा जाती है और उसके हृदय पर निराशा की एक ऐसी रेखा खिच जाती है कि जिसको कोई हटा या मिटा नहीं सकता।

अतएव तुम लोग, जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है, ईश्वर का धन्यवाद करो, जिसने इस देवता को उत्पन्न किया। तुम

यह समझ कर कि तुम्हें कहीं अन्यत्र अधिक सुख और स्वातंत्र्य मिल सकता है, इस देवता का अपमान न करो। कुटुम्ब में एक ऐसी आकर्षण शक्ति है, जो प्रत्येक मनुष्य को अपनी ओर खींचती है और अपना अङ्ग बना लेती है। इस कुटुम्ब के स्वाभाविक सुख से जो मनुष्य एक बार वञ्चित हुआ, वह चाहे अन्य साधनों से कुछ सुख या शान्ति प्राप्त कर ले, किन्तु वह शान्ति और सन्तोष अब कहां? जो मन की एकाग्रता से प्राप्त होता है और जिसको बेफ़िकरी की नींद के सुख से या उस बच्चे के सुख से उपमित कर सकते हैं, जो अपनी माता की गोद में सोता है।

कुटुम्ब की यह देवता स्त्री है, सम्बन्ध में वह चाहे माता हो, या पत्नी या भगिनी। निस्सन्देह स्त्री जीवन का आधार है। यह प्रेम की वह मीठी चाश्नी है, जो जीवन के अन्न में सींची गई है और उसको सुस्वादु बनाती है। या यह उस अमायिक प्रेम का, जो ईश्वरीय प्रेम कहलाता है, संसार में एक मूर्त्तिमान् चित्र खींचा गया है। स्त्री जाति को परमात्मा ने उन स्निग्ध तत्वों से बनाया है, जिनमें चिन्ता की जलधारा और शोक का प्रलेप ठहर ही नहीं सकते। इसके अतिरिक्त स्त्री जाति के ही प्रताप से हम अपना भविष्य बनाते हैं। बालक प्रेम का पहला पाठ अपनी माता के चुम्बन से सीखता है।

कुटुम्ब की कल्पना मानुषी कल्पना नहीं है, किन्तु ईश्वरीय रचना है और कोई मानुषी शक्ति इसको मिटा नहीं सकती।

जन्मभूमि के समान किन्तु उससे भी बढ़ कर कुटुम्ब हमारी सत्ता का एक मुख्य अङ्ग है।

मैंने कुटुम्ब को जन्मभूमि से विशेष कहा है, उसका कारण यह है कि दैशिक भेद चाहे आवश्यक भी हों, मिट सकते हैं। अर्थात् जिस समय मनुष्य जाति का धार्मिक सिद्धान्त उसके हृदय पर चित्रित हो गया और उसने समझ लिया कि हम सब एक पिता के पुत्र हैं, तो इन भेदों के मिटने की सम्भावना है, किन्तु कुटुम्ब की स्थिति उस समय तक रहेगी, जब तक इस पृथ्वीतल पर मनुष्य का अस्तित्व बना रहेगा, यह मनुष्य जाति का क्रीड़ा स्थान है, जिसमें सदा मनुष्य जाति मनो-विनोद करती रहेगी। निस्सन्देह मनुष्य जीवन के दूसरे अङ्गों के समान इसमें भी उन्नति की योग्यता रक्खी गई है और प्रत्येक समय में इसकी रुचि और अवस्था में भी संशोधन होता रहा है, परन्तु यह कभी मिट नहीं सकता। अतएव तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम कुटुम्ब को उत्तरोत्तर अधिक पवित्र बनाओ और देश या जाति के साथ दिन प्रति दिन इसका सम्बन्ध घनिष्ठ करते जाओ। देश का जो सम्बन्ध मनुष्य जाति के साथ है, वही सम्बन्ध कुटुम्ब का भी देश के साथ होना चाहिये। जिस प्रकार हमारी देशभक्ति का लक्ष्य और उद्देश्य यह है कि वह तुम्हें ऐसी शिक्षा दे कि तुम मनुष्य कहला सको, इसी प्रकार कुटुम्ब स्नेह का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह तुम्हें नागरिक और सभ्य बनने की शिक्षा दे। कुटुम्ब और देश एक ही रेखा

के दो विन्दु हैं, जहाँ कहीं यह बात नहीं है वहां कुटुम्ब स्वार्थ के रूप में परिणत हो जाता है, जो केवल देश के लिए ही नहीं किन्तु अपने लिए भी अनिष्टोत्पादक है।

यदि तुम कुटुम्ब को स्वर्ग बनाना चाहते हो तो इसकी अधिष्ठात्री देवता स्त्री जाति का आदर करो और उनको गृहदेवी समझ कर पूजा करो। उनको केवल अपने बनावटी सुख और तुच्छ वासना पूर्ति का उपकरण न समझो, किन्तु वे एक दैवी शक्ति हैं, जो ईश्वर की सृष्टि को सुन्दर और मनोरम बनाने वाली और तुम्हारे मस्तिष्क व हृदय को बल पहुँचाने वाली हैं। स्त्रियों पर विशेषता रखने का यदि कोई कुसंस्कार तुम्हारे मस्तिष्क में समाया हुआ है, तो उसे निकाल दो, तुम्हें कोई विशेषता उन पर नहीं है।

प्रत्यक्ष में जो मस्तिष्क की निर्बलता उनमें हमें देख पड़ती है और जिसको हम ने उन पर अन्याय और अत्याचार करने के लिए एक हेतु बना लिया है, वह केवल एक चिरकालीन आग्रह, अधूरी और निम्न श्रेणी की शिक्षा, कृत्रिम अधिकारों की विषमता और हमारे अन्याय ने उत्पन्न कर दी है।

किन्तु क्या प्रत्येक अन्याय और अत्याचार का इतिहास हमको यह नहीं बतला रहा कि क्योंकर अत्याचारी मनुष्य एक ऐसे कल्पित उदाहरण के द्वारा, जिसको उसने आप ही बनाया है, अपने अनुचित कार्य की पुष्टि करना चाहता है? धनवानों के समुदाय ने आपही तो अपनी जातीय सन्तान

को शिक्षा से वञ्चित रक्खा और खुद ही इस शिक्षा के अभाव को हेतु ठहरा कर नागरिक के अधिकारों से अर्थात् क़ानून बनाने या उसके लिए सम्मति देने से उनको पृथक् कर दिया। अमेरिका के निवासी कहते हैं कि कृष्ण वर्ण हबशी लोग बहुत ही असभ्य और शिक्षा के अयोग्य होते हैं, किन्तु यदि कोई उन्हें शिक्षा देना चाहता है, तो उसके शत्रु हो जाते हैं। अर्द्ध शताब्दी से इटली के स्वतन्त्र शासकगण और उनके पोषक यही कहते चले आते हैं कि इटली निवासी कदापि स्वतन्त्रता के योग्य नहीं हैं, किन्तु वही लोग अपनी प्रभुता और सेना के उद्दण्ड बल से प्रत्येक ऐसे मार्ग को रोकते हैं, जिससे इटली निवासी अपनी वास्तविक उन्नति कर सकते हैं। क्या लोगों को स्वतन्त्रता की शिक्षा देने का अत्याचार के सिवाय और कोई साधन नहीं है?

इसी प्रकार हम पुरुष भी स्त्रियों के साथ ऐसा ही अनुचित और उद्दण्ड बरताव करते आये हैं और इस समय तक कर रहे हैं। हमें इस अपराध की छाया से भी दूर रहना चाहिए, क्योंकि ईश्वर के समीप कोई अपराध इससे अधिक उग्र नहीं है, यह मानव जाति के एक कुटुम्ब को दो भागों में विभक्त करके एक भाग पर दूसरे की अधीनता स्थापित करता है।

ईश्वर पिता की दृष्टि में स्त्री पुरुष का कोई भेद नहीं है, इन दोनों से केवल मनुष्य की सत्ता का परिचय मिलता है,

अर्थात् वह सत्ता (चाहे वह पुरुष के रूप में हो या स्त्री के वेश में) जिसमें वे विशेषण मौजूद हों, जो मनुष्य जाति को इतर जातियों से विभिन्न और विशिष्ट सिद्ध करते हैं, अर्थात् मिल कर रहने की इच्छा, शिक्षा और उन्नति की योग्यता जहाँ कहीं ये विशेषण पाये जावें, वहीं मानुषी प्रकृति वर्तमान है और इसीलिए इन दोनों के अधिकार और कर्तव्य ईश्वर की दृष्टि में बराबर हैं।

जिस प्रकार एक वृक्ष मूल से दो शाखायें पृथक् पृथक् फूटती हैं, उसी प्रकार एक मनुष्य जाति की जड़ से स्त्री और पुरुष की दो शाखाएँ उत्पन्न हुई हैं। किसी प्रकार की विषमता इनमें नहीं है। रुचि और काम में कुछ भेद है, सो यह पुरुषों में भी प्रायः देखा जाता है। क्या एक ही वाद्य के दो स्वर परस्पर विषम और भिन्न जातीय समझे जावेंगे ? स्त्री और पुरुष भी दो स्वर हैं, जिनके बिना मनुष्य का राग पूरा नहीं होता।*

कल्पना करो कि दो जातियां हैं, उनमें से एक को अपनी दशा और योग्यता के कारण यह सेवा मिली है कि वह नई

* हमारे यहां स्त्री पुरुषों को गाड़ी के दो पहियों से उपमा दी जाती है, जिस प्रकार गाड़ी के दोनों पहिये आपस में बराबर हैं, उनमें कोई छोटा या बड़ा, सम या विषम, उत्तम या अधम नहीं, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष भी जो मनुष्य रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं, आपस में बराबर और समान हैं। (अनुवादक)

नई बस्तियां बसा कर मनुष्यों में परस्पर मेल-जोल बढ़ावें और दूसरी का यह काम हो कि सर्वसाधारण के लिए उपयोगी साहित्य और शिल्प की रचना करके उन मनुष्यों को उसकी शिक्षा दे, तो क्या इस कार्य भेद के कारण इन दोनों के सामान्य अधिकार और कर्तव्य भिन्न भिन्न होंगे ? इनमें से दोनों जातियां शिक्षित होकर या अशिक्षित रह कर एक ही ईश्वरीय उद्देश्य को पूरा करने वाली हैं और इसलिए दोनों के अधिकार बराबर हैं।

उपमित जातिद्वय के समान ही स्त्री और पुरुष भी मनुष्य जाति के दो महत्वपूर्ण पद हैं, जो अपना अपना काम पूरा करते हुए दूसरे के काम में सहायक होते हैं। अतएव इनमें विषमता की सम्भावना करना अनुचित ही नहीं, किन्तु पाप है।

प्यारे भाइयो ! स्त्री को केवल अपने सुख और दुःख का साथी न समझो, किन्तु अपने मानसिक भावों, हार्दिक अभिलाषों, अपने स्वाध्याय गृहस्थ यज्ञ और अपने उस पुरुषार्थ में भी, जो अपनी सामाजिक उन्नति के लिए तुम करते हो, उसको अपने बराबर का साथिनी और सहचरी समझो, उसको न केवल गार्हस्थ जीवन वा सामाजिक जीवन में किन्तु जातीय जीवन में भी अपनी सदा सहचरी और विश्वस्त मन्त्रिणी समझो। तुम दोनों मनुष्य रूप पक्षी के दो पर बन जाओ, जिनके द्वारा आत्मा उस निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सके, जो हमारा भाग्य या प्रारब्ध कहा जाता है। मूसा की बाइबिल कहती है कि, "ईश्वर

ने पहिले पुरुष को उत्पन्न किया, और फिर उसकी पसली से स्त्री को बनाया," किन्तु तुम्हारी बाइबिल अर्थात् आनेवाले समय की बाइबिल यह बतलायेगी कि "ईश्वर ने मनुष्य जाति को उत्पन्न किया और उसको स्त्री और पुरुष के रूप में प्रकट किया।"

ईश्वर ने जो सन्तान तुमको दी हैं, उनसे प्यार करो, पर वह तुम्हारा प्रेम सच्चा और गहरा होना चाहिये। वह अनुचित लाड़ या झूंठा स्नेह न हो जो तुम्हारी स्वार्थपरता और मूर्खता से उत्पन्न होता है और उनके जीवन को नष्ट करता है। तुम कभी इस बात को न भूलो कि तुम्हारे इन वर्त्तमान सन्तानों के रूप में आनेवाली प्रजायें तुम्हारी अधीनता में हैं, इसलिए इनके प्रति अपने उस कर्त्तव्य का जो ईश्वर ने तुमको सौंपा है और जिसके तुम सब से अधिक उत्तरदाता हो, पालन करो। तुम अपनी सन्तानों को केवल जीवन के सुख और इच्छा पूर्त्ति की शिक्षा न दो, किन्तु उनको धार्मिक जीवन, सदाचार और कर्तव्य पालन की भी शिक्षा दो, इस स्वार्थमय समय में ऐसे माता पिता विशेषतः धनवानों में विरले ही मिलेंगे, जो सन्तान की शिक्षा के भार को, जो उनके ऊपर है, ठीक ठीक परिमाण में तौल सकें। कुछ मातायें और थोड़े से पिता ऐसे होंगे, जिनको यह स्मरण होगा कि हमारे समय के बहुसंख्यक बलिदान, लगातार आन्दोलन और आयु भर के दुःख अधिकतर उस विषमयी शिक्षा के फल हैं, जो ३० वर्ष पहले निर्बल माताओं और

अदूरदर्शी पिताओं ने अपने सन्तानों के हृदय में भर दी थी। अर्थात् उन्होंने अपनी सन्तान को ऐसा समझने और होने का अवसर दिया कि वह अपने जीवन को सेवा और उत्तर-दायित्वपूर्ण और अपने को एक सेवक और उत्तरदायी न समझें; किन्तु झूंठे सुख और केवल अपनी भलाई की चिन्ता के लिए समझें।

श्रमजीवी भाइयो! ईश्वर का धन्यवाद करो कि तुम्हारे लिए इन भयों की सम्भावना बहुत कम है। तुम्हारी बहुत बड़ी संख्या दीन और निर्धन होने से केवल अपने उदर पूर्त्ति के धन्धों में लगी हुई है। किन्तु तुम बहुत ही गिरी हुई दशा में हो और इसी कारण निरन्तर परिश्रम करने पर बाधित हो। इस दशा में तुम अपनी सन्तानों को जैसी चाहिए, वैसी शिक्षा नहीं दे सकते। फिर भी अपने उदाहरण और उपदेश द्वारा यत् किञ्चित् तुम अपने इस कर्तव्य का पालन करते हो।

तुम अपने उदाहरण से जो कर सकते हो :—

तुम जैसे हो वैसी ही तुम्हारी सन्तानें भी होंगी, वे उतनी ही अच्छी या बुरी होंगी, जितने तुम आप अच्छे या बुरे हो। जब कि तुम आप अपने भाइयों के प्रति दयालु और उदार नहीं हो, तो उनसे क्या आशा कर सकते हो कि वे उनके प्रति दया और उदारता दिखलायेंगे। वे किस प्रकार अपनी विषय वासना और बुरी इच्छाओं को रोक सकेंगे, जब कि रात दिन तुमको विषयलोलुप और कामुक देखते हैं। वे किस प्रकार अपनी

नैसर्गिक पवित्रता को स्थिर रख सकेंगे, जब कि तुम अपने अश्लील और निर्लज्ज व्यवहारों से उनकी लज्जा को तोड़ने में संकोच नहीं करते। तुम कठोर सांचे हो जिनमें उनकी मुलायम प्रकृति ढाली जाता है। निदान यह तुम्हीं पर निर्भर है कि तुम्हारी सन्तान मनुष्य हों या मनुष्याकृति वाले पशु।

तुम अपने उपदेश से जो कर सकते होः—

उनसे अपने देश का इतिहास वर्णन करो। यह पहले क्या था और अब क्या है और क्या होना चाहिये। सायंकाल में जब वे तुम्हारी गोद में बैठे हुए अपनी भोली भोली बातों से अपनी मां के और तुम्हारे मन को आह्लादित कर रहे हों, जिससे दिन भर के परिश्रम और कष्ट को तुम भूल जाते हो, उस समय तुम उनको उन धर्मात्मा और देशभक्त पुरुषों के नाम और काम सुनाओ, जो अपने देश और जाति से प्रेम करते थे और जो अपने जीवन में सब प्रकार के कष्ट, अपमान और वेदनाओं को सहते हुए उनके उद्धार में यत्नशील रहे। उनके नवीन हृदयों में अन्याय और अत्याचार से अमर्ष उत्पन्न कर दो। वह तुम्हारी वाणी से सीखें कि धर्म का मार्ग कैसा सुहावना है, सत्य का पुजारी बनना कैसा पवित्र काम है, और अपनी जाति के लिए यदि आवश्यकता हो, अपनी बलि देना कैसी उच्चतम अभिलाष है। उनके कोमल हृदयों में केवल यही संस्कार न डालो कि वे झूंठ और अन्याय का ही तिरस्कार करें किन्तु सत्य और न्याय से प्यार करना भी उनको सिख-

लाओ। इस बात का ध्यान रक्खो कि वे बड़े होकर प्रमादी व अत्याचारी न होने पावें और उनका मत एक हृदयाधिष्ठात्री देवता का मत हो और वे लकीर के फकीर न हों। जाति का कर्तव्य है कि वह तुम्हें इस काम में सहायता दे और तुम्हारा अधिकार है कि अपनी सन्तान के लिए उससे यह सहायता प्राप्त करो। जातीय शिक्षा के बिना कोई जाति वास्तविक जाति नहीं बन सकती।

अपने माता पिता की भक्ति करो और उनका यथायोग्य सम्मान करो। ऐसा कभी न हो कि तुम अपने बालबच्चों के मोह में पड़ कर उन्हें भुला दो, जिनसे तुम उत्पन्न हुये हो। प्रायः नया सम्बन्ध पुराने सम्बन्ध को निर्बल कर देता है, होना तो यह चाहिये था कि यह सम्बन्ध उस प्रेम की जंजीर की एक और कड़ी बन जाता, जो कुटुम्ब की तीन पीढ़ियों को मिला कर एक करती है। अपने माता पिता के श्वेत केशों का उनके अन्तिम दिन तक आदर करो और उनके साथ सदा विनय और अधीनता का बर्ताव रक्खो याद रक्खो। जो सम्मान तुम अपने माता पिता का करते हो, वही तुमको अपनी सन्तान से आदर पाने का अधिकारी बनाता है।

माता, पिता, बहिनें, भाई, पत्नी और बच्चे ये सब तुम्हारे समीप उन शाखाओं के समान हों, जो एक ही जड़ से उत्पन्न होती हैं। कुटुम्ब में प्रेम की वेदी स्थापन करो और उसको ऐसा मन्दिर बनाओ, जिसमें तुम जाति या देश के लिए अपनी

भेंट चढ़ाने को एकत्रित हुये।

मैं नहीं कह सकता कि ऐसा करने से तुम कृतकार्य होगे या क्या? किन्तु यह अवश्य कहूंगा कि कठोर समय में भी तुम्हारा मन प्रसन्न और आत्मा बलयुक्त होगा, जो प्रत्येक परीक्षा में तुम्हें सहारा देगा और अन्धेरी से अन्धेरी विपत्ति में तुम्हारे आत्माओं को ईश्वरीय प्रकाश की एक झलक दिखला कर ढाढ़स देगा।

सातवां अध्याय

अपने आत्मा के प्रति हमारा कर्त्तव्य

मैं तुम्हें पहले बतला आया हूं कि तुम जीवन रखते हो, उस जीवन का कोई आदर्श होना चाहिये, अपने आप को उन्नत करना और उस आदर्श के अनुसार अपने जीवन को बनाना तुम्हारा कर्त्तव्य होना चाहिये।

मैंने तुम्हें बतलाया है कि ईश्वर ने तुमको उस जीवनादर्श के जानने के लिए दो साधन दिए हैं एक तुम्हारा अपना हृदय, दूसरा तुम्हारा जातीय अनुभव, जो तुम्हारे सजातियों की बहुसम्मति या सर्वसम्मति से उत्पन्न होता है। मैंने तुमसे कहा है कि जब कभी तुम अपने हृदय की आवाज़ को जातीय कौन्सिल की सम्मिलित आवाज़ से (जो इतिहास या वर्त्तमान घटनाओं के द्वारा तुम तक पहुँची है) मिलती जुलती पाओ तो निश्चय करलो कि एक अपरिवर्त्तनीय और अखण्डनीय सचाई तुम्हारे हाथ में है।

सम्प्रति तुम्हारे लिए यह कठिन है कि तुम मनुष्य जाति की उस आवाज़ से जो इतिहास तुम तक पहुँचा रहा है, उचित

रीति पर प्रश्न कर सको। प्रथम तो इस विषय में ऐसी पुस्तकें दुर्लभ हैं, जो वास्तव में उत्तम और सर्व प्रिय हों, दूसरे तुम्हें इतना अवकाश कहां ? परन्तु गत अर्द्ध शताब्दी में उन मनुष्यों ने जो अपनी लोकोत्तर प्रतिभा और उत्कृष्ट गुणों के कारण प्रसिद्ध हो चुके हैं और ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक विज्ञान में जो विज्ञता प्राप्त कर चुके हैं, हमारी जीवन यात्रा के कुछ तत्त्व उस विज्ञान शास्त्र से उद्धृत किये हैं।

उन्होंने अपनी खोज का यह परिणाम निकाला है कि मनुष्य की प्रकृति स्वाभाविक रीति पर समाज का अनुसरण करती है और शिक्षा के योग्य बनाई गई है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार ईश्वर एक है और एक ही हो सकता है, उसी प्रकार उसका क़ानून भी एक है और एक ही हो सकता है, जो मनुष्य पर क्या व्यक्तिगत और क्या जातिगत रीति पर एक ही प्रकार से शासन करता है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि इस क़ानून का अन्तिम उद्देश्य उन्नति है।

इस सचाई से जो एक निर्द्धारित तत्व है, क्योंकि मानवीय विज्ञान की प्रत्येक शाखा इसकी पुष्ट कर रही है, तुम्हारे वे सब कर्त्तव्य (जो तुमपर अपने प्रति हैं) निकाले गये हैं और तुम्हारे सारे अधिकार भी इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत हैं। अर्थात् ईश्वर ने या प्रकृति देवी ने तुमको यह अधिकार दिया है कि तुम्हें तुम्हारे कर्त्तव्य पालन से कोई न रोके, किन्तु उसमें यथाशक्ति सहायक हो। तुम कर्म करने में स्वतन्त्र हो, इस बात को तुम्हारा

हृदय भी अनुभव करता है। वह शुष्क विज्ञान (खुश्क फिला-सफी) जो मनुष्य के हृदय की आवाज़ को दबा कर बलात्कार अर्थात् भाग्य का सिद्धान्त उसके स्थान में प्रचलित करना चाहता है उसकी सारी झूंठी युक्तियां इन दो अजेय साक्षियों को, जो पश्चात्ताप और आत्मोत्सर्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो हर वक्त मनुष्य की स्वतन्त्रता को सिद्ध कर रहे हैं, चुप नहीं कर सकतीं।

सुकरात से लेकर मसीह तक और मसीह से लेकर आज तक जितने देशभक्त सुधारक हुए हैं, जिन्होंने अपने विश्वास और धर्म के लिए प्राण दिये हैं। सबने इस दैवालम्बन रूप दासत्व के सिद्धान्त की गर्हणा की है और वे पुकार पुकार कर तुमको यह सुनाते रहे हैं कि "हमको भी अपना जीवन प्रिय था, हम भी उन मनुष्यों को प्यार करते थे, जो हमारे जीवन को प्रिय बनाते हैं और जिन्होंने हमको बहुत कुछ रोका और समझाया कि हम ही मान जायें और अपना शिर झुकादें, हमारे हृदय की प्रत्येक वासना और इच्छा भी हमें पुकार पुकार कर यही कहती थी कि तुम जीवित रहो, जीवन को प्यार करो। "जीवन्नरो भद्र शतानि पश्येत्" परन्तु आने वाली पीढ़ियों के वाणिज्य के लिए हमने मरना ही पसन्द किया।"

अपने साथियों से विश्वासघात करनेवाले और वे सब लोग, जिन्होंने कुत्सित मार्ग का अवलम्बन किया है, अपने अन्तःकरण में एक ऐसी वेदना अनुभव करते आये हैं और अब भी करते हैं,

जो उन्हें अपवाद और लाञ्छन देती और निभर्त्सना करती है और कहती है कि क्यों तुमने सरल मार्ग को छोड़ कर इस कुटिल नीति का अवलम्बन किया।

तुम स्वतन्त्र कर्त्ता हो, इसलिए तुम पर कर्म का दायित्व है, इसी आत्मिक स्वतंत्रता से राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का तुम्हें अधिकार है, उसको प्राप्त करना और सुरक्षित रखना यह तुम्हारा कर्त्तव्य है, साथ ही दूसरे लोगों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे इस काम में तुम्हारे बाधक न हों।

तुम शिक्षा पाने के योग्य हो, तुममें से प्रत्येक में आत्मिक शक्तियों और मानसिक विकासों का एक ऐसा पुञ्ज है, जिसमें केवल शिक्षा ही प्राण डाल सकती और उसको उत्तेजित कर सकती है। शिक्षा के बिना वे सारी शक्तियां न केवल दबी रहेंगी, किन्तु निकम्मी हो जायँगी। या यदि प्रकट होंगी तो असमय और नियम विरुद्ध, जिनसे लाभ के स्थान में और हानि होगी।

शिक्षा ही आत्मा का भोजन है, जिस प्रकार हमारे शरीर और इन्द्रिय बिना प्राकृतिक भोजन के न बढ़ सकते और न स्थिर रह सकते हैं, उसी प्रकार हमारा आत्मिक और मानसिक जीवन भी फैलने और विकास पाने के लिए विज्ञान के विशाल समुद्र में शिक्षा के पोत को चाहता है।

हमारा जीवन एक पुष्प के समान है। भूमि वही है, एक ही प्रकार का खाद सब को दिया जाता है, परन्त प्रत्येक पुष्प जाति

अपनी भिन्न भिन्न आकृति, छवि और स्वभाव रखतीं है। प्रत्येक मनुष्य मानव जाति का एक अङ्ग है, जीवन को जातीय जीवन से पुष्ट करता है और बढ़ाता है। यह पुष्टि और वृद्धि का काम शिक्षा के द्वारा पूर्ण होता है. जो जातीय और सामाजिक उन्नति के परिणाम को साक्षात या एक दूसरे के द्वारा प्रत्येक मनुष्य तक पहुँचा देती है।

अतएव तुम्हारे वास्तविक जीवन के लिए शिक्षा एक आवश्यक वस्तु ही नहीं है किन्तु अपने सजातीय भाइयों के साथ, उन पूर्वजों के साथ जो तुमसे पहले हो चुके हैं, सच्चा सम्बन्ध और पवित्र मेल शिक्षा के बिना तुम उत्पन्न ही नहीं कर सकते। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे ईश्वर प्रदत्त सारी शक्तियां विकसित और उपचित हों और उसकी सहायता से मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन जातिगत जीवन से बन्ध जाय और सदा बन्धा रहे। यह शिक्षा तुमको अप्रतिबन्ध (बिना रुकावट) मिलती रहे और तुम्हारा व्यक्तिगत जीवन जातिगत जीवन का एक अङ्ग हो जाय, इस लिए ईश्वर ने तुमको समाज के आश्रित बनाया है।

पशु पक्षी आदि अन्य जन्तु अकेले रह सकते हैं, उन्हें केवल प्राकृतिक भोजन की आवश्यकता है, जहां वह पूरी हो गई बस फिर उन्हें किसी की परवाह नहीं। तुम्हारी दशा ऐसी नहीं है, तुम पद पद पर अपने सजातियों की अपेक्षा रखते हो और अपनी छोटी से छोटी आवश्यकता को भी उनकी सहायता के

बिना पूरा नहीं कर सकते। इतर प्राणियों से तुम्हें श्रेष्ठता तभी मिल सकती है जब कि तुम अपने सजातीयों के साथ मिल कर रहते हो। यदि तुम उनसे अलग हो जाओ तो बहुत से क्षुद्र जन्तुओं से भी निर्बल और जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के अयोग्य हो जाओगे। तुम्हारे हृदय की उच्चतर आकांक्षायें जैसे स्वदेश भक्ति और वे भी जो सबसे कम प्रशंसा के योग्य हैं, जैसे अपने महत्त्व और ख्याति की अभिलाषा, इस बात का संकेत करती हैं कि अपने जीवन को उन करोड़ों मनुष्यों के जीवन के साथ (जिन से तुम घिरे हुए हो) मिला देने की इच्छा तुम्हारे स्वभाव में उत्पन्न की गई है। अतएव तुम मेल के लिए पैदा हुए हो।

यह मेल तुम्हारी शक्ति को सौ गुना कर देता है। दूसरों के विचार और उन्नति को यह तुम्हारे विचार और उन्नति में परिणत कर देता है और परस्पर प्रेम और सहानुभूति के भाव से तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र और उन्नत होता है। जितना तुम्हारा मेलजोल अपने सजातीयों के साथ बढ़ता है, जितना वह गम्भीर और विशाल होता है, उतना ही तुम अपनी व्यक्तिगत उन्नति के मार्ग में अग्रसर होते हो। हम अपने जीवन के आदर्श को कभी पूरा नहीं कर सकते, जब तक हम सब मिल कर उद्योग या परिश्रम नहीं करते। इतिहास बतलाता है, कि ज्यों ज्यों मनुष्य उन्नति करता गया और उस आदर्श को अपने जीवनमें चरितार्थ करता रहा, त्यों त्यों मानवीय मिलाप की सीमा

बढ़ती गई, भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर मेल जोल और मित्रता का भाव बढ़ता गया। पूर्व इसके कि सब से पहले ईसाइयों ने मूर्तिपूजकों के विरुद्ध, जो मनुष्य की दो प्रकृति बतलाते थे, एक स्वामी की प्रकृति और दूसरे सेवक की प्रकृति, मनुष्य मात्र के बराबर होने का उपदेश किया, रोमन लोग अपने झंडे तमाम यूरोप के देशों में, जो उस समय मालूम हो चुके थे, गाड़ चुके थे। *

पूर्व इसके कि पोप की गद्दी ने, जो इस समय मनुष्य जाति के लिए बहुत ही हानिकारक है (चाहे पूर्व समय में लाभदायक हुई हो) सांसारिक शासन पर धार्मिक शासन की घोषणा की, जाङ्गलिक आक्रमणकारी लैटिन और जर्मन जातियों को एक दूसरे से मिला चुके थे।

पूर्व इसके कि स्वतंत्रता की लहर ने (जिसका निर्देश केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर नहीं, किन्तु जातिगत स्वतंत्रता पर किया जाता है) वह जातीयता का भाव उत्पन्न किया, जो इस समय यूरोप में फैल रहा है और अपना प्रभाव दिखा रहा

* यदि ग्रन्थकार का तात्पर्य यूरोप के प्रचलित मतों से है, तब तो ठीक है, सम्भव है कि यूरोप में ईसाइयों ने सब से पहले इस सत्यता का अनुभव किया हो, किन्तु यदि समस्त संसार के प्रचरित मतों से है तो ठीक नहीं, क्योंकि भारतवर्ष में जब ईशा का जन्म भी नहीं हुआ था, मनुष्य मात्र को नहीं, किन्तु प्राणिमात्र को वेद की आज्ञानुसार मित्र की दृष्टि से देखा जाता था। (अनुवादक)

है, परिवर्त्तन और राष्ट्रीय लड़ाइयों ने संसार की छिपी हुई जातियों को उठा कर खड़ा कर दिया था, जो उस समय तक अज्ञान दशा में अन्धकारावच्छिन्न थीं।

तुम उन्नति करने वाली सत्ता हो, उन्नति का शब्द या वाच्य जो पहिले लोगों को मालूम न था, अब आगे मनुष्य जाति का पवित्र गुरुमन्त्र हो जाने वाला है। सम्पूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिवर्तन और संशोधन इस एक शब्द में भरा हुआ है। प्राचीन समय के मूर्तिपूजक लोग मनुष्य के कामों को बिगाड़नेवाला या बनानेवाला प्रारब्ध को या, दैव अर्थात् एक गुप्त शक्ति को, जो कर्म और फल दोनों की अधिष्ठात्री है, मानते थे। अर्थात् मनुष्य से कर्म भी वही कराती है और उसका फल भी वही देती है। जिसके अध्यवसाय को कि वह क्या करेगी और किस प्रकार करेगी, मनुष्य न समझ सकता है और न उसमें हस्तक्षेप कर सकता है। वे मनुष्य को इस योग्य न समझते थे कि वह पृथिवी पर कोई महान या चिरस्थायी काम कर सकता है। उनका विश्वास यह था कि जिस प्रकार व्यक्तियें एक नियत परिधि पर भ्रमण करने के लिए उत्पन्न की गई हैं, उसी प्रकार जातियें भी अपनी नियत सीमा को उल्लंघन नहीं कर सकतीं। वे सदा उसी कक्षा के भीतर उठती हैं, शक्ति प्राप्त करती है, फिर गिर जाती है और अन्त में जाकर निर्मूल हो जाती हैं।

जब कि मनुष्य के ज्ञान की अन्तिम सीमा ऐसी संकुचित

थी और जब कि लोग अपने समुदाय, वस्तु या नगर के सिवाय और सारी ऐतिहासिक घटनाओं से बिलकुल अनभिज्ञ थे तो उस समय वे मनुष्य जाति को केवल एक मनुष्य का समुदाय समझते थे, जिनका समष्टि रूप से कोई संयुक्त जीवन या आदर्श नहीं है और वे लोग केवल व्यक्तिगत विचार रखते और उसी पर अपने क्रिया कलाप को निर्भर रखते थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता था कि उनमें अनुकरण करने की टेव पड़ जाती थी और परिवर्तन से वे घबराते थे। जहां सामयिक घटनाओं ने प्रजासत्तात्मक राज्य स्थापन कर दिये, वहां के मनुष्य स्वतन्त्र हो गये और जहां अनियन्त्रित राष्ट्र-व्यवस्था रही, वहां वे पराधीन एवं दास होकर अपनी उन्नति से हाथ धो बैठते थे। इन दोनों प्रकार के राष्ट्रों में सर्वत्र मनुष्य जाति या तो चार वर्णों में, जैसा कि पूर्व में है, या दो में (नागरिक स्वतन्त्र या ग्रामीण दास) जैसा कि यूनान में था, विभक्त थी। इस जाति भेद और मनुष्यों की प्रकृतियों को सब ने मान लिया था। यहां तक कि यूनान के सब से प्रसिद्ध विद्वान अफलातून और अरस्तू भी इसको मानते थे। यदि तुम भी ऐसे लोगों के मध्य में होते तो तुमको जातीय स्वतंत्रता कभी न मिल सकती।

जिन लोगों के मुँह पर क्राइस्ट का शब्द था और जिन्होंने प्राचीन अग्निपूजक या मूर्तिपूजक धर्मों की अपेक्षा एक उच्चतर धर्म की स्थापना की, उन्होंने भी उस पवित्र आशय को,

जो इस उन्नति के शब्द में गर्भित था, एक धुंधली आकृति में देखा। उनको मनुष्य जाति की एकता और उसके शासन-नियम की एकता का ज्ञान तो हो गया और मानवशक्ति की पूर्णता और विकाश को भी उन्होंने जान लिया, परन्तु इस बात को वे नहीं समझ सके कि ईश्वर ने मनुष्य को ऐसी शक्ति दी है कि वह स्वयं अपने उद्योग से इस पूर्णता को प्राप्त कर सकता है और यह भी उन्होंने नहीं जान पाया कि इस पूर्णता को प्राप्त करने के उपाय क्या हैं। उन्होंने अपने अनुभव और ज्ञान को यहीं तक परिमित रक्खा कि केवल व्यक्तिगत विचारों से मनुष्य जीवन के आदर्श को स्थिर करें, मनुष्य जाति की सत्ता समष्टि रूप में उनकी दृष्टि से छिपी रही।

उन्होंने ईश्वर की सत्ता पर तो विश्वास किया और उसी को मनुष्य के भाग्य या प्रारब्ध का विधाता भी समझा, किन्तु ईश्वर को उन्होंने केवल व्यक्तियों का संरक्षक जाना, सम्पूर्ण मनुष्य जाति का नहीं। उनके एक ओर तो यह उदार कल्पना थी कि मनुष्य उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच सकता है और दूसरी ओर मनुष्य व्यक्ति का तुच्छ और परिमित जीवन। अतएव उन्हें मनुष्य और ईश्वर के बीच में दोनों को जोड़ने वाली एक वस्तु की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु मनुष्य जाति का समष्टि रूप से उनको अनुभव नहीं हुआ था, इसलिए वे ईश्वर के एक अवतार की तरफ झुक गये और इस बात पर विश्वास लानेवाले को ही भुक्ति, मुक्ति और ईश्वरीय दया का पात्र समझने लगे।

ईश्वर अपना ज्ञान मानव जाति द्वारा सब मनुष्यों पर सदा प्रकट करता रहता है, इस सिद्धान्त को मानकर भी वे इस बात पर विश्वास करने लगे कि ईश्वर अपने ज्ञान को किसी नियत काल में किसी मुख्य मनुष्य के द्वारा (जिसको ईश्वर ने इस काम के लिए चुना हो) एकदम और एक अलौकिक ढङ्ग से प्रकट कर देता है। उन्होंने ज़ञ्जीर की उस कड़ी को, जो मनुष्य को ईश्वर से मिलाती है, तो जान लिया, परन्तु उनका बुद्धिबल उस कड़ी के जानने में कृतकार्य न हुआ, जो पृथिवी पर सम्पूर्ण भूत, वर्त-मान और भविष्य के मनुष्यों को परस्पर मिला देती है।

जो लोग इस बात को नहीं समझते थे कि एक पीढ़ी का दूसरी पीढ़ी पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ता है, वे इस विषय पर अधिक विचार नहीं कर सकते थे, उन्होंने मनुष्य को इस पृथिवी से और सारी मनुष्य जाति से और उन तमाम बातों से, जो मनुष्य जाति से सम्बन्ध रखती हैं, पृथक् करने का यत्न किया और अन्त में इस पृथिवी को अनित्य और अपने पापों के प्राय-श्चित्त करने की जगह समझ कर उस स्वर्ग का विरोधी सम-झने लगे, जो उनकी दृष्टि में नित्य और पुण्यात्माओं का वास स्थान है।

क्योंकि इनका एक ऐसे ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) पर विश्वास था, जो एक नियत समय पर नियत व्यक्ति को होता है और जो पूर्ण है, इसलिए उन्होंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि उसमें कोई संशोधन या परिवर्तन नहीं हो

सकता और उसके आदर्श भूल या त्रुटि से रहित हैं। उन्होंने इस बात को भुला दिया कि उनके धर्म का प्रवर्तक धर्मशास्त्र को मिटाने नहीं किन्तु बढ़ाने और फैलाने के लिए आया था। उन्होंने इंजील के उस गम्भीर स्थल का पाठ तो किया परन्तु उस पर ध्यान नहीं दिया, जब कि भावी समय के एक उच्च-मनस्क से ईसा ने कहा था कि "मेरी और बहुत सी बातें हैं जिन्हें मैं तुमसे कहूं, पर अब तुम उनको सुना नहीं सकते। परन्तु मेरे पश्चात् सत्यात्मा आवेगा, जो अपनी न कहेगा, किन्तु जो सुनेगा, सो कहेगा।" (यूहन्ना बाब १६ आयत ७-१२-१३-२५) यह दूतोचित वाक्य हैं, जिनमें उन्नति, ईश्वरीय ज्ञान का विकाश, जो मनुष्य जाति के लिए है, और सत्य के लगातार प्रकाशित होने का भाव विद्यमान है।

मूर्त्ति पूजा के बाद जो धर्म यूरोप में प्रचलित हुआ, उस की कुल इमारत इसी बुनियाद पर खड़ी की गई, जो अब इस को थामने में निर्बल सिद्ध हो रही है।

जब ईसा ने यह मनोहर और सारगर्भित वाक्य मुँह से निकाले थे उसके तेरह सौ वर्ष पीछे एक मनुष्य ने (जो इटली का निवासी था और इटेलियनों में बहुत बड़ा और प्रसिद्ध हो चुका है) निम्न लिखित सचाइयों का उपदेश किया:—

"ईश्वर एक है, यह सारा संसार ईश्वर का एक विचार है, इसलिए संसार भी एक ही है। सम्पूर्ण वस्तु का उत्पादक ईश्वर है, इसलिए प्रत्येक वस्तु में (चाहे वह जड़ हो

या चेतन) थोड़ा बहुत ईश्वरीय अंश रहता है और उसी को ईश्वरीय स्वभाव या ईश्वरीय प्रकृति कहते हैं। ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है, इसलिए ईश्वर ने अपना यह अंश मनुष्य में सब से अधिक रक्खा है। प्रत्येक वस्तु जो ईश्वर से उत्पन्न हुई है, पूर्णता प्राप्त करने की उस सीमा तक योग्यता रखती है, जिसके यह योग्य बनाई गई है। मनुष्य की योग्यता इस पूर्णता को प्राप्त करने में अपरिमित और असीम है। ईश्वर ने कोई वस्तु निरुपयोगी नहीं बनाई। मनुष्य जाति एक है, इसलिए सारे मनुष्यों का एक ही उद्देश्य होना आवश्यक है, जिसको सब मनुष्य एक दूसरे की सहायता से पूर्ण करें, जिससे मानवीय शक्तियाँ, विचार और क्रिया पूर्णरूप से विकसित हों। निदान मनुष्य जाति के लिए एक ही सार्वजनिक धर्म की आवश्यकता है।"

जिस मनुष्य ने ये वाक्य कहे थे उसका नाम डैंटे (Dante) था। जब इटली स्वतन्त्र हो जाय तो उसके प्रत्येक नगर में इस महात्मा के स्मारक स्थापित होने चाहिएं, क्योंकि उसके इन वाक्यों में आगामी काल का धर्म बीज रूप से विद्यमान है। यह उसने लैटिन भाषा की दो पुस्तकों में लिखा था, और शोक है कि उनके गम्भीराशय होने से इटली निवासियों ने उनको भुला दिया है। परन्तु मानसिक जगत् में जो विचार एक बार बो दिये गये फिर वे नष्ट नहीं होते। दूसरे मनुष्य इस बात से अनभिज्ञ रहकर भी कि वे कहां से उत्पन्न हुए, कहाँ फैले उनको

काटते और इकट्ठा करते हैं। वट वृक्ष के फैलाव की सब प्रशंसा करते हैं, परन्तु जिस बीज से वह इतना बड़ा वृक्ष हुआ है, उस पर कौन ध्यान देता है ? डैन्टे ने जो बीज बोया था, वह जड़ पकड़ गया। समय समय पर कोई न कोई प्रतिभाशाली पुरुष उसको जलदान करता रहा और गत शताब्दी के अन्त में उस वृक्ष ने फल दिया। उन्नति का भाव जीवनोद्देश्य के समान, जिसको इतिहास ने अपना सर्वश्रेष्ठ अंग मानकर पुष्ट किया, विद्या ने अपना परिणाम या सफलता का चिह्न समझ कर दृढ़ किया, भावीकाल के धर्म का झंडा बन गया और इस समय कोई विचारवान् व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो इस भावना को अपने परिश्रम और यत्न का पहला फल नहीं समझता।

अब हम जानते हैं कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य उन्नति है, जिसमें व्यक्तिगत और जातिगत दोनों प्रकार की उन्नति संयुक्त है। मनुष्य जाति इस उद्देश्य को पृथिवी पर पूरा करती है और व्यक्तियां इस लोक में और परलोक में भी।

एक ईश्वर और एक ही उसका नियम या मनुष्य का उद्देश है। मनुष्य जाति अपनी उत्पत्ति के आरम्भ से लेकर अब तक क्रमशः एवं अनिवार्य रीति पर इस नियम या उद्देश को पूरा करती आई है और आगे बराबर करती रहेगी।

सचाई का प्रकाश एकबारगी और पूर्ण रीति पर नहीं होता, किन्तु वह शनैः शनैः और यथा समय होता रहता है। उस सत्य का एक एक अंश और उस उद्देश का एक एक परिणाम

सदा से होते आये परिवर्तन द्वारा प्रकट होता रहता है। इनमें से प्रत्येक परिणाम का ज्ञान मनुष्य जीवन की काया पलट देता है और उसको उन्नति का अभिलाषुक बना देता है और इसी से किसी विश्वास या धर्म की नींव पड़ती है। अतएव धार्मिक विश्वास की उत्पत्ति और वृद्धि अपरिमित रीति पर होती रहती है और एक दूसरे के पीछे फैलनेवाले विश्वास या सिद्धान्त, जिनमें से प्रत्येक उद्देश या तत्व को विशाल और पुष्ट करता जाता है, एक मन्दिर के स्तम्भों के समान कुल मनुष्य जाति के सम्मिलित मन्दिर अर्थात् इस पृथिवी के उच्च और विशाल धर्म की स्थापना एवम् रचना में सहायक होते हैं। जिन लोगों को ईश्वर ने सब से अधिक प्रतिभा और शालीनता दी है, वे इस धर्म के प्रवर्त्तक (दूत) हैं। मनुष्य जाति का अनुभव अपने समष्टि रूप में इसका अनुवादक है, जो सचाई के इस तत्व को स्वीकार करता और एक पीढ़ी में इसे पहुँचाता और मनुष्य जीवन के प्रत्येक विभाग में इससे काम लेकर इसको कार्यक्षेत्र में लाता है। मनुष्य जाति एक ऐसी अजरामर वस्तु है, जो सदा जीवित रहती और सीखती है।

कोई व्यक्ति या व्यक्तिगत कार्य (चाहे वह राज्यशासन ही क्यों न हो) भूल या त्रुटि से मुक्त नहीं हो सकता और न कोई ऐसा जन-समुदाय है या हो सकता है, जो ईश्वरीय क़ानून का अनन्यभाव से अपने को ठेकेदार या दावेदार कह सके। ईश्वर और मनुष्य के बीच सिवाय मनुष्य जाति और उसके अन्तः-

-करण के और कोई मध्यस्थ नहीं है और न हो सकता है।

ईश्वर ने मनुष्य जाति को क्रमशः शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता प्रदान की है, जिसका परिचय हमको उस आकांक्षा से मिलता है जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में उन्नति के लिए स्वाभाविक है, इस ईश्वरीय इच्छा को पूर्ण करने की शक्ति और योग्यता केवल मानवीय प्रकृति को दी गई है।

एक व्यक्ति जो स्वतन्त्र होने से उत्तरदाता (ज़िम्मेदार) भी है, जिस परिमाण से वह कर्त्तव्य के मार्ग पर चलता या मदायलिप्त होकर उस मार्ग से च्युत होता है, उसी परिणाम से उन शक्तियों का, जो उसे दी गई हैं, अच्छा या बुरा उपयोग करता है। वह इस प्रकार अपनी उन्नति की गति को द्रुतगामिनी या विलम्बित गामिनी बना सकता है। परन्तु ईश्वरीय इच्छा किसी मनुष्य के द्वारा कभी नहीं दबाई जा सकती। मनुष्य जाति की शिक्षा एक दिन अवश्य पूर्णता को पहुँचेगी। यह भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अशिक्षित और असभ्य जातियों के समूह, जो समय समय पर वर्तमान सभ्यता को मिटाने की धमकी देते रहते हैं, उसका परिणाम एक नई सभ्यता का प्रादुर्भाव होता है, जो पहिली सभ्यता से भी उत्कृष्ट और दूर तक फैली हुई होती है। यहां तक कि व्यक्तिगत अत्याचार और बलात्कार भी अन्त में जाकर एक तीव्रगामिनी और चिरस्थायिनी स्वतन्त्रता की उत्पत्ति का कारण होते हैं।

अतएव उन्नति का नियम उसी प्रकार पृथिवी पर पूरा होगा

जिस प्रकार स्वर्ग में या परलोक में। पृथिवी और स्वर्ग में कोई विरोध नहीं है और यह विश्वास करना एक प्रकार का नास्तिक-पन है कि हम ईश्वर के रचे और दिये हुए इस घर को अर्थात् पृथिवी को तुच्छ दृष्टि से देखें या इसको अन्याय, अहङ्कार और बुराइयों के पंजे में छोड़ना पाप न समझें।

पृथिवी पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिन विश्राम करने की जगह नहीं है। यह वह घर है, जिसमें रह कर हमें सत्य, न्याय और दया के उस अंकुर को परिपुष्ट करना चाहिये जिसका बीज प्रत्येक मनुष्य के हृदयक्षेत्र में बोया गया है। यह पूर्णता के उस शिखर पर पहुँचने की सीढ़ी है, जिसको हम तभी प्राप्त हो सकते हैं, जब कि अपने मन, वचन और कर्म से ईश्वर के प्रकाश को संसार में फैलावें और अपने आप को इस पवित्र काम के लिए समर्पित कर दें कि जहाँ तक हमारे सामर्थ्य में है, उसकी इच्छा पूर्ण करेंगे। जिस समय हमारा न्याय होगा और हमको यह व्यवस्था दी जायगी कि हम या तो आगे बढ़ें या पीछे हटें उस समय केवल यही देखा जायगा कि हमने अपने भाइयों के साथ भलाई की है या बुराई, उनको अपने जीवन संग्राम में सहायता पहुँचाई है, या हानि?

जितनी अधिक सहानुभूति और जितना अधिक निष्क-पट प्रेम हम अपने सजातीय बान्धवों के साथ रक्खेंगे, उतनी ही अधिक हमारी शक्ति बढ़ेगी। हमें यह प्रयत्न करना चाहिये कि मनुष्य जाति एक कुटुम्ब बन जावे, जिसका प्रत्येक अंग

प्रज्वलित अणु के समान धार्मिक प्रकाश की किरण बन कर दूसरों के लिए उन पर चमके। जिस प्रकार जातिगत पूर्णता पीढ़ी दर पीढ़ी अर्थात् युग युगान्तर में उन्नति करती जाती है, उसी प्रकार व्यक्तिगत पूर्णता भी जन्म जन्मान्तर में उन्नति कर रही है और करेगी।

ऊपर कहे हुए थोड़े से तत्व उस एक शब्द "उन्नति" में भरे हुए हैं, जिससे मानवजाति का भविष्य कालीन धर्म निष्पन्न होगा। केवल इसी धर्म के आश्रय से तुम स्वतन्त्रता (मुक्ति) के अधिकारी बन सकते हो।

आठवां अध्याय

स्वतन्त्रता

म जीवन रखते हो, तुम्हारा जीवन आकस्मिक नहीं है। आकस्मिक शब्द का कोई अर्थ या ध्येय नहीं, जिन बातों को मनुष्य नहीं जानता, उनके विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करने के लिए उस ने यह शब्द कल्पित कर लिया है। तुम्हारा जीवन ईश्वर की ओर से है और ज्यों ज्यों यह उन्नत होता है, इससे एक उच्चाभिलाष प्रकट होता है। अतएव अवश्य तुम्हारे जीवन का कोई उद्देश या प्रयोजन है।

अन्तिम उद्देश हमारे जीवन का क्या है, यह अभी तक हमें विदित नहीं हुआ और न विदित हो सकता है, परन्तु इससे हम उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते।* क्या

---

* मनुष्य जीवन के इस अन्तिम उद्देश को संसार भर में यदि किसी ने समझा तो भारतवर्ष के प्राचीन ऋषि मुनियों ने और वह मनुष्य का अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना है। वाह्य उन्नति की अस्थिरता एक दिन यूरोप निवासियों को भी इस उद्देश की तरफ खींच कर लायेगी (अनुवादक)

एक स्तनपायी शिशु जानता है कि उसे अपने कुटुम्ब में, देश में और अपनी जाति के सम्बन्ध में क्या काम करना है ? नहीं जानता, पर तो भी कोई उद्देश है और उसने नहीं तो हमने उस उद्देश को समझना आरम्भ कर दिया है। इसी प्रकार मनुष्य जाति भी ईश्वर का दूध पीने वाला बच्चा है और ईश्वर जानता है कि उसे किस काम और उद्देश को पूरा करना है।

मनुष्य जाति ने अभी अभी समझना शुरू किया है कि उन्नति करना ही हमारे जीवन का उद्देश है और जिन पदार्थों या जन्तुओं से वह परिवेष्टित है, उनको भी कुछ कुछ साधारण रीति पर वह समझने लगी है। परन्तु प्रायः मनुष्य व्यक्तियाँ ऐसी हैं जो या तो अपनी गिरी हुई दशा और पराधीनता के कारण या कुछ भी किसी प्रकार की शिक्षा न मिलने के कारण इस बात के अयोग्य हैं कि उस उद्देश को या उन पदार्थों को वास्तविक स्वरूप में जान सकें। क्योंकि अपने आपको अच्छे प्रकार जानने के लिए आवश्यक है कि हम पहले इन दोनों बातों को समझने लगें।

हमारे छोटे से यूरोप की आबादी में अभी तक एक अल्प संख्या मनुष्यों की इस योग्य हुई है कि अपनी मानसिक शक्तियों को यथार्थ रीति पर समझें और काम में लावें। क्योंकि तुम लोगों का अधिकांश भाग्य शिक्षा और सभ्यता से वञ्चित है और नियम विरुद्ध शारीरिक परिश्रम से काम ले रहा है, इसलिए तुममें वे शक्तियां अभी तक छिपी हुई हैं; जो मनुष्य को विद्या

और सभ्यता के शिखर पर पहुँचाती हैं। जब यह दशा है तो हम किस प्रकार अभी इस बात के समझने का अभिमान कर सकते हैं, जिसके लिए तुम सबको संयुक्त परिश्रम और उद्योग की आवश्यकता होगी। सच तो यह है कि हमें इस बात पर खेद प्रकट करना चाहिए कि हम अभी तक उस स्थान पर नहीं पहुँचे जो हमारी उन्नति का अन्तिम लक्ष्य है जब कि हममें से कतिपय मनुष्य और वे भी एक दूसरे से अलग होकर उसके पवित्र काम को अपने मुँह से निकालना सीख रहे हैं।

अतएव जो बातें अभी दीर्घकाल तक हमारे ज्ञान में नहीं आ सकतीं उनसे अनभिज्ञ रहने पर भी हमें धैर्य धरना चाहिये और बालकों के समान अधीर होकर उन तत्त्वों के अनुसन्धान को भी नहीं छोड़ देना चाहिये, जिनको हम जान सकते हैं। जान बूझ कर कुटिलता की अपेक्षा अधीरता, प्रमाद और अहंकार ने बहुतों को पतित और नष्ट किया है। पूर्व काल के लोगों की जो यह किंवदन्ती चली आती है कि वह अहंकारी, जिसने आकाश में सीढ़ी लगाने की चेष्टा की, बाबुल अर्थात् विरोध और भ्रान्ति का बुर्ज बनाने में कृतकार्य हुआ और जिन राक्षसों ने ओलम्पस पर आक्रमण किया था, उनको बिजली से मार कर हमारे ज्वालामुखी पहाड़ों के नीचे गाड़ दिया। इससे वह लोग हम पर भी अपनी सचाई प्रकट करना चाहते थे।

जिस बात पर हमको विश्वास होना चाहिये, वह यह है कि हमारे जीवन का उद्देश्य चाहे कुछ हो, परन्तु उस उद्देश्य

को हम केवल लगातार उन्नति करने और अपने मानसिक बल को काम में लाने से ही प्राप्त कर सकते हैं। शरीर और इन्द्रिय जो ईश्वर ने हमको दिये हैं, श्रम के अधिष्ठान और करण हैं अतएव इनसे उचित रीति पर काम लेने और अपनी मानसिक शक्तियों को बढ़ाने में सदा हमको यत्नशील रहना चाहिये।

स्वतन्त्रता के बिना तुम अपना कोई कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकते, इसलिए तुम्हें कर्म करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। स्वातन्त्र्य के बिना चरित्र भी नहीं रह सकता। क्योंकि जब तक अच्छा या बुरा पर हित या स्वार्थ का काम करने में मनुष्य अपनी सम्मति या रुचि से काम नहीं लेता, तब तक न्यायानुसार उस पर कोई उत्तरदायिता नहीं हो सकती। समाज और सामाजिक बल भी इसी स्वतन्त्रता के आधार पर स्थित हैं, क्योंकि स्वतन्त्र आर परतन्त्रों में मेल या साम्य होना एक असम्भव बात है, हां वे केवल एक दूसरे पर शासन कर सकते हैं।

स्वतन्त्रता मानुषी जीवन का प्रतिबिम्ब है या उसको मनुष्य की नैसर्गिक अवस्था कहना चाहिये। जहां स्वतन्त्रता नहीं है, वहाँ मनुष्य जीवन काम करने का एक उपकरण मात्र है न कि अधिकरण। जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को दूसरे के हाथ बेचता है, या उससे अपने को वञ्चित करता है, तो मानो वह अपनी प्रकृति का अनादर और ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करता है। किसी व्यक्ति या कुटुम्ब वा समुदाय को ईश्वर

की ओर से यह अधिकार नहीं मिला है कि वह दूसरे मनुष्यों की रुचि या सम्मति के विरुद्ध उन पर शासन करे। सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो समान रूप से सब मनुष्यों के प्राकृत अधिकारों की रक्षा करे।

राजकीय सत्ता किसी एक व्यक्ति पर निर्भर नहीं है, जिस सीमा तक उचित रीति पर वह सत्ता इस पृथ्वी पर प्रकट हो सकती है, वह ईश्वर ने मनुष्य जाति या उसके जातीय समाज में स्थापित की है और वह भी मनुष्यों के उस समुदाय से छीन ली जाती है, जब कि ईश्वरीय नियम के विरुद्ध उसका उपयोग किया जाता है या मनुष्य जाति को उससे हानि पहुँचाई जाती है। निदान शासन का अधिकार किसी व्यक्ति विशेष का दाय नहीं है, यह अधिकार वास्तव में उस ईश्वरीय उद्देश्य और उन कामों से सम्बन्ध रखता है, जो हमें उस उद्देश्य के समीप ले जाते हैं। और इस उद्देश्य और इन कामों पर, जिनकी ओर हम जा रहे हैं, उचित है कि हम सब विचार करें।

जिस परिपाटी का नाम हमने गवर्नमेंट रक्खा है, वह केवल एक प्रबन्ध है अर्थात् कुछ मनुष्यों को जातीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक सेवा सौंप दी गई है। यदि इस सेवा में वञ्चना की जाय या उस उद्देश्य के विरुद्ध आचरण किया जाय तो यह प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार उन मनुष्यों से छीन लेना चाहिये।

जिस मनुष्य को शासन का अधिकार दिया जाता है, जिस लिए कि वह भिन्न भिन्न रुचि और भिन्न भिन्न मत के लोगों पर शासन करता है, इसलिए उसका निर्वाचन होना चाहिये और वह निर्वाचन इस प्रतिज्ञा के अधीन हो कि जब कभी वह उस उद्देश्य से समझने में भूल करे या जान बूझ कर अपने अधिकार का दुरुपयोग करे तभी उससे वह अधिकार छीन लिया जावे।

मैं फिर यह कहने के लिए बाध्य हूं कि तुम्हारी नैसर्गिक स्वतन्त्रता को हानि पहुँचा कर किसी मनुष्य, कुटुम्ब या समुदाय को तुम पर शासन करने का अधिकार नहीं है। जब ऐसे मनुष्य वर्त्तमान हैं, जिनको तुम्हारी रुचि या सम्मति के विरुद्ध तुम पर शासन करने का अधिकार प्राप्त है, तो उनकी उपस्थिति में तुम किस प्रकार अपने को स्वतन्त्र कह सकते हो। अतएव युक्तियुक्त और समीचीन शासन पद्धति वास्तव में प्रजातन्त्र शासन पद्धति है।

सिवाय ईश्वर के और कोई तुम्हारा स्वामी (उपास्य देव) नहीं है कि जिसकी तुम उपासना करो और सिवाय जाति के और कोई तुम्हारी अधिष्ठात्री देवी नहीं है कि जिसकी तुम सब मिलकर आराधना करो। जब तुम्हें ईश्वरीय नियम या ईश्वरीय आज्ञा का कोई अंश भी मालूम हो तो तुम उसका धन्यवाद करो और उसका अनुसरण करो। जब कभी जाति, जो तुम्हारे सजातीय भाइयों की समष्टि रूप एकता है, संहत हो कर अपनी किसी रुचि या भावना को प्रकट करे तो तुम उसके सामने

अपना शिर झुका दो। किन्तु कुछ नियम ऐसे हैं, जो केवल तुम्हारी व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं, उनमें जाति को भी हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। कोई बहुसम्मति अत्याचार की व्यवस्था नहीं दे सकती, न वह अपनी स्वतन्त्रता को नष्ट या परिवर्त्तित कर सकती है। यदि कोई जाति ऐसे आत्मघात के करने में उद्यत हो तो तुमको उसपर सन्तोष नहीं करना चाहिये। तुम में से प्रत्येक को सदा से यह अधिकार प्राप्त है और रहेगा कि देश काल की अवस्था के अनुसार तुम ऐसी निन्दनीय चेष्टा पर अपना असन्तोष प्रकट करो।

जिन बातों से जीवन की धार्मिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति होना सम्भव है, उन सब में अवश्य ही तुमको स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। जैसेः—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता, सामाजिक स्वतन्त्रता, प्रत्येक विषय पर जो सम्मति चाहो स्थिर करने की स्वतन्त्रता, उस सम्मति को समाचार पत्रों या दूसरे नियन्त्रित साधनों के द्वारा प्रकाश करने की स्वतन्त्रता, आपस के मेलजोल की स्वतन्त्रता, परिश्रम और काम करने की स्वतन्त्रता और उस परिश्रम और काम से जो पैदावार हो वाणिज्य और व्यवसाय के द्वारा उससे लाभ उठाने की स्वतन्त्रता, ये सब ऐसी बातें हैं, जो किन्हीं विशेष दशाओं के सिवाय जिनका यहां पर वर्णन करना आवश्यक नहीं है, तुमसे छीनी नहीं जा सकतीं और यदि ऐसा हो तो तुम्हें आक्षेप करने का अधिकार प्राप्त है।

किसी मनुष्य को तब तक यह अधिकार नहीं है कि समाज के नाम से तुम्हें बन्धन में रक्खे या तुम्हारी अवज्ञा करे या क़ारागार में तुमको रक्खे, जब तक कि तुमको यह न बतलाया जाय कि क्यों ऐसा किया जाता है और यह जहाँ तक हो सके शीघ्र बतलाना चाहिये और साथ ही तुम्हें न्याय की शक्ति रखने वाली संस्था (अदालत) में शीघ्र पहुँचाया जावे। तुम्हारे धार्मिक विश्वास पर तुम्हें सताने या उस पर हस्तक्षेप करने या उसके विरुद्ध नियम बनाने का किसी के अधिकार नहीं है। सिवाय मनुष्य जाति की संहत ध्वनि के और किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह ईश्वर और तुम्हारे आत्मा के बीच में मध्यस्थ हो।

ईश्वर ने तुमको मननशक्ति दी है, किसी मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि तुमको उसके प्रकाश करने से रोक सके, क्योंकि तुम्हारा आत्मा अपने सजातीयों के आत्मा से केवल इसी शक्ति के प्रकाश द्वारा बातचीत कर सकता है और यही हमारी भावी उन्नति का साधन है।

समाचार पत्रों को पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। मानुषी विधान के अधिकार ऐसे नहीं हैं, जिनको कोई तोड़ सके या मिटा सके और यदि कोई चेष्टा इनके रोकने के लिए की जायगी तो उससे अनर्थ की सम्भावना है। निस्सन्देह समाज को समाचार पत्रों की भूलों, अपराधों और अनुचित लेख के लिए उसी प्रकार दण्ड देने का अधिकार प्राप्त है, जिस प्रकार वह किन्हीं

और त्रुटियों के लिए उन्हें दण्डित कर सकता है।

शान्त मेलजोल का अधिकार भी वैसाही पवित्र है, जैसा कि विचार शक्ति का। ईश्वर ने मेलजोल की प्रवृत्ति हमारे स्वभाव में रक्खी है, जो हमारी उन्नति का स्रोत और उस एकता का निदर्शन है, जिसको एक दिन प्राप्त करने के लिए मनुष्य जाति की सृष्टि हुई है। अतएव किसी शक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह इस मेलजोल को कम करे या उसके मार्ग में विघ्न डाले।

तुम में से प्रत्येक का यह कर्त्तव्य है कि जो जीवन ईश्वर ने उसको प्रदान किया है, उससे काम ले और उसको सुरक्षित रक्खे। इसी कारण परिश्रम करना तुम्हारा धर्म है, क्योंकि विना परिश्रम तुम अपने जीवन की रक्षा कर नहीं सकते। परिश्रम एक आवश्यक काम है, किसी को यह अधिकार नहीं है कि उसको रोके या उसमें बाधा डाले। परिश्रम से जो पैदावार उत्पन्न होती है, उससे अबाध्य वाणिज्य को रोकने का किसी को अधिकार नहीं है। तुम्हारा देश तुम्हारे व्यवसाय और परिश्रम की मंडी है, किसी को उसमें हस्तक्षेप करने या तुमको हानि पहुँचाने का अधिकार नहीं है।

किन्तु जब वह समय आ जाय कि यह भिन्न भिन्न प्रकार की स्वतन्त्रता पवित्र समझी जावेगी, जब कि राष्ट्र की नींव सर्वसाधारण की सम्मति पर और ऐसी रीति से स्थापित होगी कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रीति पर अपने योग क्षेम और उन्नति

का द्वार अपने लिए खुला देखेगा, जब ऐसा समय आ जाय, तब इस बात को मत भूलना कि सार्वजनिक उन्नति करना ही हमारा उद्देश्य है, अर्थात् मनुष्य जाति के सब अङ्गों में अधिक गहरा और अधिक फैला हुआ मेलजोल उत्पन्न करके अपने आप को तथा दूसरों को धार्मिक उच्चभावों की सीमा तक पहुँचाना ही हमारे जीवन का उद्देश्य है, बिना इसको पूरा किये हम कभी विश्राम न लेंगे।

"इस पृथिवी पर तुम इसलिए भेजे गये हो कि ईश्वर का एक नगर बसाओ उसमें सार्वजनिक कुटुम्ब की स्थापना करो। इस महान् कार्य के सम्पादन करने के लिए तुमको लगातार परिश्रम और उद्योग करने की आवश्यकता है।"

जब तुममें से प्रत्येक मनुष्य मात्र को भ्रातृ दृष्टि से देखने लगेगा और सब आपस में एक कुटुम्ब का सा आचरण करने लगेंगे, प्रत्येक मनुष्य अपनी भलाई दूसरों की भलाई में समझेगा, अपने जीवन को सब के जीवन के साथ और अपने लाभ को सब के लाभ के साथ मिलावेगा, जब हर एक मनुष्य इस संयुक्त कुटुम्ब के लिए स्वार्थत्याग करने पर उद्यत होगा और वह कुटुम्ब किसी एक व्यक्ति को भी अपने से पृथक् न समझेगा, उस समय वे बहुत सी बुराइयाँ जो अब मनुष्य जाति के दुःख और उद्वेग का कारण हो रही हैं, उसी प्रकार शान्त हो जावेंगी, जिस प्रकार सूर्योदय के होते ही निबिड़ तमोराशि छिन्न भिन्न हो जाती है। तभी ईश्वर की इच्छा पूर्ण होगी। क्योंकि उसकी

यह इच्छा है कि मनुष्य जाति के बिखरे हुये अङ्ग प्रेम के द्वारा आपस में मिल जुल कर धीरे धीरे एक हो जायें और जिस प्रकार वह आप एक है, उसी प्रकार उसकी सन्तान भी एक ही हो जाये।"

ये शब्द ऐसे मनुष्य से निकले हैं, जिसके जीवन और मरण दोनों पवित्र और शिक्षाप्रद थे, जो जाति को और उसके भावी हित को जी से प्यार करता था। प्रिय बान्धवो! तुम इन शब्दों को कभी मत भूलो। स्वतन्त्रता क्या है? केवल एक साधन है। तुम पर और तुम्हारी भावी दशा पर मुझे खेद होगा, यदि तुम किसी समय इसे उद्देश्य या परिणाम समझने लगो। निस्सन्देह तुम्हारे व्यक्तिगत भी कुछ धर्म या अधिकार हैं, जिनसे किसी दशा में तुम्हें प्रमाद या उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। किन्तु तुम पर और तुम्हारी दशा पर खेद होगा, यदि तुम उस वस्तु का जिससे तुम्हारा व्यक्तिगत जीवन बनता है, यथोचित आदर न करो और अहङ्कार और स्वार्थ के नाशक अपराध से अपने आत्मा को कलङ्कित करो।

स्वतन्त्रता से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि अधिकार और शासन पृथिवी से उठ जावे, किन्तु यह केवल उस अधिकार को मिटती है जो जाति के जातीय उद्देश्य को प्रकट नहीं करता या जो तुम्हारी स्वतन्त्र सम्मति पर नहीं, किन्तु किसी और आधार पर स्थापित किया जाता है।

वर्तमान समय में मिथ्या और प्रवञ्चना युक्त सिद्धान्तों ने

स्वतन्त्रता के स्वरूप को बिगाड़ रक्खा है। कोई कोई तो इसे एक संकीर्ण और विनयोन्मूलक अहङ्कार की सीमा तक ले गये हैं, भोग विलास और विषय-जन्य सुख ही उनके जीवन का सर्वस्व है, मन की वासनाओं का पूरा होते रहना ही उनकी दृष्टि में इस समस्त सामाजिक व्यवस्था और प्रबन्ध का उद्देश्य और परिणाम है। दूसरे लोग वे हैं जो प्रत्येक प्रकार के शासन और अधिकार को ही संसार से उठाना चाहते हैं, उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता की कोई सीमा नहीं है और सम्पूर्ण समाज का कर्त्तव्य यह है कि अनिर्धारित समय तक स्वतंत्रता को उन्नति का अवसर देता रहे। मनुष्य को अधिकार है कि उसका भली प्रकार या बुरी प्रकार या जिस प्रकार चाहे उपयोग करे, किन्तु इस बात का ध्यान रक्खे कि उसके ऐसा करने से दूसरों को प्रकाश्य रूप से कोई हानि न पहुँचे और राष्ट्रीय शासन का सिवाय इसके और कोई कर्त्तव्य नहीं है कि वह एक के हाथ से दूसरे को हानि न पहुँचने दे।

प्रिय बान्धवो! इन अपसिद्धान्तों और कुतर्कों को छोड़ो। पहिली कोटि के विचारों ने समाज को अहंकारी और स्वार्थी बना दिया है, दूसरी कोटि के विचार समाज को सिपाही या पुलिसमैन से अधिक पदवी नहीं देते, जिनका काम यह है कि बाहर से दिखलाने के लिए शान्ति को स्थापित करें। यदि समाज की दशा उत्तम और प्रबन्ध अक्षुण हो तो तुम्हारे जातीय जीवन का उद्देश्य शीघ्र पूर्ण हो सकता है।

इस कोटि के समस्त विचारों का झुकाव इस ओर है कि स्वतन्त्रता को उपद्रव और अशान्ति से बदल दें, सम्मिलित धार्मिक उच्चभाव और उन्नति का वह मार्ग जो समाज को ग्रहण करना चाहिये, भ्रष्ट हो जावे, यदि तुमने स्वतन्त्रता को इन अर्थों में समझा है तो तुम स्वतन्त्रता के अधिकारी और उसको उपयोग में लाने के योग्य न रहोगे और शीघ्र या कुछ समय पश्चात् यह स्वतन्त्रता तुमसे छीन ली जावेगी।

तुम्हारी स्वतन्त्रता वहीं तक पवित्र और अनुकरणीय हैं, जहाँ तक उसके मूल में धर्म का भाव और इस बात का विश्वास भरा हुआ है कि ईश्वर के सब पुत्रों को पूर्णता की कक्षा पर पहुँचना है।

यदि स्वतन्त्रता से तुम्हारा यह अभिप्राय नहीं है कि तुम्हें अपनी शक्तियों को भली या बुरी रीति से जिस रीति पर कि तुम चाहो काम में लाने का अधिकार है, किन्तु उसका तात्पर्य यह समझते हो कि तुम्हारी भिन्न भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार भलाई करने के साधन चुन लेने और हस्तगत करने का अधिकार तुमको मिल जावे तो इस दशा में तुम्हारी स्वतन्त्रता ईश्वर और मनुष्य दोनों की संरक्षकता में बढ़े और फूले फलेगी।

नवाँ अध्याय

शिक्षा

ईश्वर ने तुमको शिक्षा पाने के योग्य उत्पन्न किया है, इसलिए तुम्हारा कर्त्तव्य है कि जहाँ तक तुम्हारी शक्ति में हो, शिक्षा ग्रहण करो। और जिस समाज के साथ तुम्हारा सम्बन्ध है, उसका भी यह औचित्य है कि वह तुम्हारी शिक्षा में रुकावट न डाले, किन्तु इस कार्य में तुम्हारी सहायता करे और यदि तुम्हें शिक्षा के साधन अप्राप्त हों तो तुम्हारे लिए उनको सुगम करे।

तुम्हारी स्वतन्त्रता, तुम्हारे अधिकार, तुम्हारा अपनी सामाजिक कक्षा में प्रत्येक अन्याय से उद्धार और वह काम जिसका इस संसार में पूरा करना तुममें से प्रत्येक पर उचित और आवश्यक ठहराया गया है, ये सब बातें अधिकतर उस सीमा की शिक्षा पर निर्भय है जिसको तुम प्राप्त कर सको?

शिक्षा के बिना तुमको हिताहित और इष्टानिष्ट का ज्ञान नहीं हो सकता। राजनैतिक जीवन में तुमको वह अधिकार

नहीं मिल सकता, जिसके बिना तुम्हारी सामाजिक मुक्ति असम्भव है और तुम अपने उद्देश्य (सेवा) के ठीक ठीक अर्थ और अभिधेय पर नहीं पहुँच सकते।

शिक्षा तुम्हारे आत्मा का अन्न है, इसके बिना तुम्हारी प्राकृत शक्तियाँ और उनका विकास उसी प्रकार संकुचित और निर्जीव पड़े रहेंगे, जिस प्रकार उस बीज की अंकुरोत्पादन शक्ति जो बिना जोती हुई भूमि में डाला गया है और सिंचन क्रिया से वञ्चित है, और कोई कृषक उसकी देख भाल और रक्षा नहीं करता है?

इस समय तुम्हारा समाज या तो बिलकुल अशिक्षित है या ऐसे मनुष्य और अधिकारी उसको शिक्षा देते हैं, जिनका किसी महान् उद्देश्य पर लक्ष्य नहीं है। इसलिए वे उसके स्वरूप को बिगाड़ते और उसके प्रवाह को बदल देते हैं। वर्त्तमान शिक्षा विभाग के अधिकारी केवल इतना अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि कुछ स्कूल खोल दें, जो उनके नियमित देश में असमान रीति पर इधर उधर बिखरे हुये हों। इन स्कूलों में तुम्हारी सन्तान यदि चाहे तो किसी कक्षा तक आरम्भिक शिक्षा प्राप्त कर सकती है जिसमें पढ़ना लिखना और हिसाब शामिल है।

इस प्रकार की शिक्षा का उचित नाम इन्स्ट्रक्शन है, जो वास्तविक शिक्षा से उतना ही भिन्न और पृथक् है, जितने हमारे शरीर के भिन्न भिन्न अङ्ग हमारे जीवन से। शरीर के अङ्ग हमारा जीवन नहीं हैं, वे केवल हमारे जीवन के उपकरण और

सहायक हैं। जीवन उनके अधीन और उनसे अधिकृत नहीं है, किन्तु वे जीवन के अधीन और अनुगत हैं। जिस प्रकार वे एक पवित्र जीवन को प्रकट करने वाले हैं, उसी प्रकार वे एक अपवित्र और कुटिल जीवन को भी व्यक्त करते हैं। यही दशा शिक्षा और आचार की है, जो कुछ शिक्षा सिखलाती है, आचार उसके उपयोग में लाने के साधन प्रस्तुत करता है, किन्तु वह शिक्षा का स्थान स्वयं नहीं ले सकता।

शिक्षा का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से है और आचार का कर्मेन्द्रियों से। शिक्षा से मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है और आचार से वह उनको उपयोग में लाने की योग्यता सम्पादन करता है। आचार के बिना शिक्षा प्रायः फलित नहीं होती और शिक्षा के बिना आचार उस लीवर के समान है, जिसका फुलक्रिज़म निकाल लिया गया है।

तुम पढ़ सकते हो, किन्तु तुम्हारा यह पढ़ना किस काम का है, यदि तुम इस बात का विवेक नहीं कर सकते कि कौन सी पुस्तकें दूषित और अपाठ्य हैं और किन में सचाई और उच्च भावों का प्रकाश किया गया है। तुमने लेख द्वारा अपने विचार सर्वसाधारण पर प्रकट करना सीख लिया है, किन्तु यदि तुम्हारे विचार केवल तुम्हारी अभिरुचि का प्रतिबिम्ब हों तो इससे तुम्हें क्या लाभ होगा?

यूरोप में आज कल जो परिपाटी शिक्षा की प्रचलित है, उसके साथ उसी कक्षा की धार्मिक शिक्षा न होने से वह प्रायः

अनर्थ का कारण होतो है। जिसका प्रत्यक्ष फल यह दीख रहा है कि एक ही जाति के समुदायों में विषमता बढ़ रही है। गिनती गिनना, आत्मश्लाघा और न्याय अन्याय दोनों को मिलाने की चेष्टा करना ये गुण या अवगुण उनमें उत्पन्न हो रहे हैं।

जो लोग तुम्हें आचारशील बनाना चाहते हैं और उनके विरुद्ध जो लोग तुम्हें शिक्षा देना चाहते हैं, इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है, जिसको तुम नहीं जानते, इसलिए इस विषय में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता है।

इस समय यूरोप का उदार (लिबरल) सम्प्रदाय दो प्रकार के मनुष्यों में विभक्त है। पहले प्रकार के मनुष्य व्यक्तिगत शासन पद्धति के पक्ष में हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्यों का कथन है कि शासन पद्धति पर समाज का अधिकार रहना चाहिये और बहुपक्ष की संयुक्त सम्मति ही उसका क़ानून है।

पहला समुदाय समझता है कि यदि वे अधिकार जो मनुष्य की प्रकृति के साथ उत्पन्न होते हैं, मान लिये गये और साधारण स्वतन्त्रता बनी रही तो उस समुदाय का उद्देश्य पूरा हो गया। दूसरे समुदाय का अवलम्बन एसोसियेशन अर्थात् मेलजोल पर है और सामाजिक एकता से, जिससे वह मेलजोल उत्पन्न होता और बढ़ता है, वह समुदाय प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य का निर्धारण करता है।

पहला समुदाय उससे आगे नहीं बढ़ता, जिसको मैंने

आचार के नाम से निर्देश किया है। इसमें सन्देह नहीं कि आचार में व्यक्तिगत योग्यताओं को विना किसी नियम या क्रम के परिपुष्ट करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। दूसरा समुदाय शिक्षा की आवश्यकता को समझता और उसे सामाजिक कार्यावलि की उत्थानिका मानता है।

पहले समुदाय का विचार धार्मिक अशान्ति की ओर ले जाता है और दूसरे समुदाय का विचार वास्तविक स्वतन्त्रता से वञ्चित रख कर बहुपक्ष की भेड़-चाल का अनुगामी बनाता है।

इनमें से पहले विचार के वे लोग थे, जो फ्रांस में डाक्टर नेपर्स के नाम से प्रख्यात हैं, उन्होने सन् १८३० के परिवर्तन के बाद जाति की आशाओं को मिट्टी में मिला दिया और केंवल आचार की स्वतन्त्रता को स्थापन करके राष्ट्रीय शासन का अधिकार सदा के लिए बोलीजेस सम्प्रदाय के हाथ में दे दिया, जिसको अपनी व्यक्तिगत योग्यता के बढ़ाने के पर्याप्त साधन प्राप्त थे। दूसरे विचार के अनुगामी दुर्भाग्य से आज कल वे राज्य या धर्म हैं, जो प्राचीन गाथाओं या विश्वासों को मानते और आगामी काल के धर्म या सिद्धान्त से (जो सिवाय उन्नति के और कुछ नहीं) विरोध करते हैं।

ये दोनों प्रकार के सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण हैं, दोनों की प्रवृत्ति संकीर्ण और भेदयुक्त है। सच्चा और सार्वजनिक सिद्धान्त यह है।

जगत् के शासन और अधिकारों का केन्द्र ईश्वर है, धर्म या मनुष्य का कर्त्तव्य ईश्वरीय आज्ञा है, जो सारे संसार में शासन कर रही है और जब से मनुष्य जाति उत्पन्न हुई है, धर्मात्मा एवं सदाचारी पुरुषों के द्वारा यथा समय उस पर प्रकट होती रही है, उसी को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना अर्थात् जीवन भर उसी सेवा का पालन करना हमारा काम है।

शासनाधिकार किसी मनुष्य या समाज का पैतृक अंश नहीं है, जो मनुष्य या समाज उस ईश्वरीय आज्ञा (धर्म) के अनुसार काम करते हैं और उस उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायक होते हैं, वे कोई हों या कहीं हों, उसके अधिकारी हैं।

बहुपक्ष या अधिक सम्मति को भी कोई न्यायोचित अधिकार शासन का नहीं है, यदि वह ईश्वरीय आज्ञा और उस आदर्श के विरुद्ध हो, जिसको मनुष्य का धर्म स्थापित करता है। या जान बूझ कर मनुष्यों की उन्नति के मार्ग को रोकना चाहे।

कोई उत्तम शासन, सामाजिक श्रेय, धार्मिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक उन्नति इन तीन बातों का विरोध नहीं कर सकता।

शिक्षा हमें बतलाती है कि हमारा सामाजिक श्रेय किस बात में है और वह प्रत्येक मनुष्य को विश्वास दिलाती है कि सामाजिक उन्नति ही उसके जीवन का उद्देश्य है।

जो बात तुम्हारे लिए सब से अधिक आवश्यक है, वह यह है कि तुम्हारी सन्तान को सिखलाया जावे कि वे पवित्र नियम और सिद्धान्त कौन से हैं जो उनकी सामाजिक व्यवस्था और

मर्यादा को बनाते और दृढ़ करते हैं ? उनकी जाति का धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रोग्राम क्या है ? जिस क़ानून से उनके आचार विचार परखे जायेंगे, वह कैसा है ? मनुष्य जाति पहले किस सीमा तक उन्नति कर चुकी है और वह कौन सा अभीष्ट स्थान है, जहाँ हमें पहुँचना है। और यह भी आवश्यक है कि बचपन से ही उनको समता और एकता की शिक्षा देनी चाहिये, जो उनको ईश्वर के पुत्र अपने करोड़ों धर्म भ्राताओं के साथ एक ही उद्देश्य की ज़ञ्जीर में बांध देगी। जो शिक्षा तुम्हारी सन्तान को ऐसा बना सकती है, वह तुम्हारे जातीय विद्यालयों से ही उसको मिल सकती है।

इस समय उनकी धार्मिक शिक्षा बड़ी बुरी दशा में है, वे केवल अपने माता पिताओं के सहारे पर हैं, जिनको अपनी दरिद्रता और शारीरिक परिश्रम के कारण न इतनी विद्या है और न इतना अवकाश कि अपनी सन्तान को आप शिक्षा दे सकें और न वह इतनी शक्ति रखते हैं कि उनके लिए शिक्षक नियत कर सकें, वहां शिक्षा का बिलकुल अभाव है। और जहां तमाम कुटुम्ब में दुर्गुण और व्यसनों की भरमार है, वहां इसके विरुद्ध कुशिक्षा हो रही है। और जहां ईश्वर की कृपा से माता पिता इतनी शक्ति रखते हैं कि वे अपनी सन्तान की शिक्षा का प्रबन्ध कर सकें, वहां भी प्रायः लोकाचार के बन्धनों, या भ्रान्ति, या प्रमाद या आलस्य के कारण सन्तानों को जिस शिक्षा की आवश्यकता है, नहीं दी जाती या उसके विरुद्ध दी

ाती है, धार्मिक या सांसारिक जिस विचार का शिक्षक ाता पिता नियत करते हैं, वही विचार शिष्यों के हृदय में ड़ पकड़ता जाता है। जब बचपन में ऐसी शिक्षा दी जाय ा शिक्षा से सन्तान को बिलकुल वञ्चित रक्खा जाय, तो किस प्रकार लोग एक सार्वजनिक उद्देश्य के लिए परस्पर प्रेम और सहानुभूति से काम करने के योग्य बन सकते और देश या जाति की एकता को अपने व्यक्तित्व में मूर्त्तिमान दिखला सकते हैं।

समाज उनसे आशा करता है कि वे एक संयुक्त भाव को उन्नति दें, जिसकी कि उन्होंने शिक्षा नहीं पाई। समाज उनको उन नियमों का पालन न करने के कारण दण्ड देता है, जिनसे वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं और जिनके विस्तार और परिणाम को जानने का समाज ने कभी उनको अवसर नहीं दिया। समाज उनसे उस उद्देश्य के लिए संयुक्त प्रयत्न और आत्मोत्सर्ग को चाहता है, जो किसी अध्यापक ने उनकी जीवनयात्रा में उनको नहीं बतलाया।

आश्चर्य की बात यह है कि डाक्टर लोगों का सम्प्रदाय और जिसका अभी ऊपर मैंने वर्णन किया है, पृथक् पृथक् प्रत्येक व्यक्ति का शासनाधिकार और नवयुवकों को शिक्षा देने का अधिकार स्वीकार करता है, किन्तु वही अधिकार व्यक्तियों के समूह अर्थात् जाति का स्वीकार नहीं करता। उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से जाति का नेतृत्वाधिकार जाता रहता है। सिके

और मुद्रा के विषय में तथा तौल और पैमानों के विषय में तो वे लोग एकता वा समता की बड़ी भारी आवश्यकता बतलाते हैं, परन्तु सिद्धान्त या उद्देश्य का ऐक्य या साम्य, जिस पर समाज का जातीय जीवन और उसका योगक्षेम निर्भर है, उनकी दृष्टि में कुछ भी नहीं है।

बिना जातीय शिक्षा के जाति की कोई धार्मिक सत्ता नहीं है, क्योंकि केवल जातीय शिक्षा के आधार पर ही जाति की बेल फैल सकती है। बिना जातीय शिक्षा के, जो सर्वसाधारण के लिए सामान्य रीति पर होनी चाहिये, अधिकार और कर्त्तव्य की समता एक अपार्थक और असंगत बात है, क्योंकि इस दशा में कर्त्तव्य का ज्ञान और उपयोग एवं अधिकारों की योग्यता या तो आर्थिक दशा पर निर्भर हो जाती है या उन लोगों के अनुचित और नियम विरुद्ध निर्वाचन पर, जो शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं।

समता के विरोधी अपनी पुष्टि में स्वतन्त्रता का नाम लिया करते हैं, परन्तु वह स्वतन्त्रता किसकी? बच्चों के बापों की या बच्चों की? उनके सिद्धान्तानुसार बच्चों की धार्मिक स्वतन्त्रता उनके बापों की स्वतन्त्रता को खो देती है अतएव सन्तान की स्वतन्त्रता और भलाई को बूढ़ों के अधिकार नहीं अहंकार की भेंट चढ़ाया जाता है और इस रीति पर उन्नति की स्वतन्त्रता एक धोखे की टट्टी हो जाती है।

व्यक्तिगत, विचार और विश्वास, चाहे वे भ्रान्तिमूलक

और उन्नति के प्रतिबाधक ही क्यों न हों, पिता की आज्ञा से पुत्र के हृदय में ऐसे समय में, जब कि वह उनकी जाँच पड़ताल करने के बिलकुल अयोग्य होता है, आरूढ़ किये जाते हैं और जब वे बड़े होते हैं तब कुछ तो तुम्हारी बहुसम्मति के कारण, जिसको तुम लोकाचार कहते हो, और कुछ इस कारण कि उन्हें प्रतिक्षण सांसारिक काम धंधों में तत्पर रहना पड़ता है, उनके हृदय को उन विचारों और विश्वासों के, जो पहले से उस पर चित्रित हो चुके हैं, दूसरों के विचारों और सिद्धान्तों से मिलान करके संशोधित और परिष्कृत करने का अवसर नहीं मिलता।

इस झूठी स्वतन्त्रता के नाम से, जिसका मैंने वर्णन किया है, समाज में एक प्रकार की उच्छृङ्खलता और विषमता की जड़ जम रही है।

वास्तव में यह स्वतन्त्रता नहीं, किन्तु एक प्रकार की उच्छृङ्खलता है, सच्ची स्वतन्त्रता समता के बिना स्थिर नहीं रह सकती और समता केवल उन्हीं में रह सकती है, जिनको आरम्भ से एक ही प्रकार की और एक उद्देश्य के लिए शिक्षा दी जाय और समान रीति पर कर्त्तव्य ज्ञान से प्रतिबोधित किया जाय। स्वतन्त्रता का उचित उपयोग केवल इसी ज्ञान का परिणाम है।

मैं पहले कह चुका हूं कि सच्ची स्वतन्त्रता यह नहीं है कि मनुष्य को बुराई के पसन्द करने का अधिकार दिया जाय, किन्तु इस बात का अधिकार दिया जाय कि भलाई करने के जो भिन्न भिन्नमार्ग हैं, उनमें से वह जिसको चाहे, स्वीकार करे। जिस

स्वतंत्रता को यह संकीर्ण-हृदय फ़िलास्फ़र पुकार रहे हैं, वह सिवाय इसके और कुछ नहीं कि बाप को अपने बेटे के लिए उच्छृङ्खल रीति पर बुराई पसन्द करने का अधिकार दिया जाता है। आश्चर्य का स्थान है कि यदि कोई बाप अपने बच्चे के देह को किसी तरह से बिगाड़ना या हानि पहुँचाना चाहे तो ये सब चिल्लायेंगे और समाज इसमें हस्तक्षेप करने के लिए उद्यत हो जायगा, परन्तु उस बालक के आत्मा का इतना भी मूल्य नहीं है, जितना कि उसके देह का? क्या समाज का कर्त्तव्य नहीं है कि जब उसकी आत्मिक शक्ति को बिगाड़ा जाय, उसे मूर्खता के अन्धकूप में ढकेला जाय और भ्रान्ति की दलदल में फँसाया जाय तो वह उचित रीति पर अपने पुत्र की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करे।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पुकार जब पहले पहल उठी थी, तब बहुत अच्छी थी। जिन देशों में धार्मिक शिक्षा किसी आत्मतंत्र शासन के अधीन या किसी संकीर्ण धार्मिक सम्प्रदाय के नेताओं के हाथ में थी, वहां यह पुकार अब भी लाभजनक है। इसका उत्थान स्वतंत्र शासकों के स्वेच्छाचार और सम्प्रदायों के गुरुडम से मुक्ति दिलाने के लिए हुआ था, सो उस समय के लिए यह अच्छी और आवश्यक थी। किन्तु मैं तुम से उस समय और उस दशा का वर्णन कर रहा हूं, जब कि धार्मिक सम्प्रदाय भी "उन्नति" के शब्द को अपने उपासनालय के द्वार पर चमकते हुये अक्षरों में लिख देंगे, जब कि तुम्हारे

सम्पूर्ण सिद्धान्त और नियम भिन्न भिन्न प्रकार से केवल इसी शब्द का परिचय करायेंगे और जब कि सर्व साधारण को एक ही जातीय शिक्षा दी जायगी, जिसका अन्तिम पाठ छात्रों को इन शब्दों में पढ़ाया जायगा।

अब हमने तुमको, जो हमारे साथ एक ही उद्देश्य को पूरा करने के लिए और एक ही रीति पर जीवन यापन करने के लिए उत्पन्न हुए हो, बतला दिया है कि उस उद्देश्य की जड़ क्या है और तुम्हारी जाति इस समय किन नियमों को मानती है। किन्तु स्मरण रक्खो कि इन नियमों में पहला नियम "उन्नति" है और यह भी स्मरण रक्खो कि मनुष्य और नागरिक दोनों की अवस्था से तुम्हारा कर्तव्य यह है कि जहां तक तुम्हारी शक्ति में हो अपने सजातीय बान्धवों की बुद्धि और हृदयों को विकास दो। यदि तुम्हें कोई ऐसी सचाई विदित हो जो उससे उत्तम हो, जिस पर तुम्हारा इस समय तक विश्वास है, तो उदारता के साथ उसे स्वीकार करो और फैलाओ।

यदि पहले नहीं तो अब तुम्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की पुकार को अनावश्यक और जातीय ऐक्य की बाधक समझ कर छोड़ देना पड़ेगा। तभी तुम अबाध जातीय शिक्षा की जड़ जमा सकोगे, जिसका प्राप्त करना सब पर उचित और सबके लिए आवश्यक है।

जाति के लिए आवश्यक है कि वह अपना प्रोग्राम प्रत्येक नागरिक तक पहुँचाये और वह प्रोग्राम यह है कि प्रत्येक

नागरिक जातीय शिक्षालय में धार्मिक शिक्षा पायेगा और जातीयता के निबंध पर ऐसी पाठ्य पुस्तकें उसको पढ़ाई जायंगी, जिनमें मनुष्य जाति की उन्नति की साधारण व्यवस्था और उसके अपने देश का इतिहास और उन नियमों तथा प्रस्तावों की सरल व्याख्या, जिनके अनुसार देश का क़ानून बनता है, एवं प्रारम्भिक शिक्षा जिस पर हम सब सहमत हैं, नियुक्त होंगी। इन शिक्षालयों में प्रत्येक नागरिक को समता और प्रेम का पाठ भी पढ़ाया जायगा।

जब एक बार जाति का प्रोग्राम समस्त नागरिक लोगों के पास पहुँच गया तब स्वतंत्रता अपना अधिकार स्वयं जमा लेती है। न केवल गृह शिक्षा किन्तु प्रत्येक प्रकार की शिक्षा पवित्र है। प्रत्येक मनुष्य को बिना रोक टोक के इस बात का अधिकार होना चाहिये कि वह अपने विचार अपने सजातीय बान्धवों के सामने प्रकट कर सके और प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह उसकी बात को सुने। मानने या न मानने का उसको अधिकार है। समाज का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक दशा में विचार स्वातन्त्र्य को बढ़ाये और जातीय प्रोग्राम के संशोधन, परिवर्त्तन और उन्नति का प्रत्येक मार्ग निरावरण कर दिया जाय।

दसवां अध्याय

एकता और उन्नति

ईश्वर ने तुमको एकताप्रिय और उन्नतिशील उत्पन्न किया है, इसलिए तुमको उचित है कि परस्पर मिलो और जहां तक तुम्हारी शक्ति में है, उन्नति करो। तुम समाज से इस बात की सहायता पाने के अधिकारी हो कि वह तुम्हारे एकता और उन्नति के काम में किसी प्रकार बाधक न हो, किन्तु तुमको अपेक्षित सहायता दे और यदि एकता और उन्नति के लिए किन्हीं साधनों की तुमको आवश्यकता हो तो उनको यथासम्भव प्रस्तुत करे। स्वतन्त्रता से तुमको बुराई या भलाई तथा कर्त्तव्य या अधिकार में से जो चाहो पसन्द करने को अधिकार मिल जाता है, शिक्षा तुम्हें यथार्थ रीति पर पसन्द करना सिखाती है, किन्तु एकता से तुम्हें अपनी उस पसन्द को उपयोग में लाने का अवसर मिलेगा और यदि वह उद्देश्य, अर्थात् उन्नति जो तुम्हारी पसन्द का लक्ष्य होना चाहिये, सिद्ध होगया, तो वह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण होगा कि तुमने अपनी पसन्द में त्रुटि नहीं की। शिक्षा, स्वत-

न्त्रता और एकता यही तीनों मिल कर उन्नति के मन्दिर का निर्माण करते हैं।)

अतएव तुमको उचित है कि तुम इन तीनों की प्राप्ति के लिए और सब से अधिक एकता, मेल जोल का अधिकार प्राप्त करने के लिए यत्न करो, जिसको बिना शिक्षा और स्वतन्त्रता दोनों तुम्हारे उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकतीं।

मेल जोल और एकता का अधिकार वैसा ही पवित्र है, जैसा कि धर्म का, जो केवल आत्माओं की एकता का नाम है। तुम सब ईश्वर के पुत्र और इसीलिए आपस में भाई हो, जो मनुष्य भाइयों की एकता में विघ्न डालेगा, वह अवश्य पापी है।

यह मेल का शब्द जिसका मैंने प्रायः प्रयोग किया है, ईसाई धर्म ने हमको सिखलाया है और प्राचीन समय के लोग इसको एक न बदलने वाला धर्म कहते रहे हैं। वास्तव में यह मनुष्य जाति के धार्मिक परिवर्तनों की सीढ़ी का एक सोपान है। यह शब्द बड़ा ही पवित्र है, इसी ने मनुष्य जाति को सिखलाया कि वह ईश्वर के सामने समान अधिकार रखने वाले एक कुटुम्ब के सदृश है। स्वामी और सेवक भक्ति, युक्ति और स्वर्गीय आशाओं के एकही विचार में मिल गये हैं। प्राचीन काल की अपेक्षा, जब कि विद्वान और सर्वसाधारणजन नागरिक और ग्रामीणों के आत्माओं को परस्पर विरुद्ध स्वभाव और धर्म वाले समझते थे, ईसाई धर्म के महत्त्व का केवल एक यही

चिन्ह पर्याप्त था कि उसने आत्माओं की समता उद्घोषित कर मनुष्य जाति को मेल का महत्त्व बतलाया और यह मेल आत्माओं की समता और प्रेम का एक चिन्ह था और यह मनुष्य जाति का काम था कि इस चिन्ह के नीचे जो सचाई छिपी हुई थी, उसे विस्तार के साथ फैलाती।

चर्च से यह काम नहीं हुआ और न हो सकता था। वह अपनी आद्यावस्था में भयभीत और डाँवाडोल था, अन्त में जाकर धनवानों और सांसारिक प्रभुता सम्पन्न लोगों का पक्षपाती बन गया और विभूति की कामना से, जिसका उसके संस्थापक के हृदय में लेश भी न था, स्वार्थ में डूब कर सच्चे मार्ग से भटक गया। किन्तु यहाँ तक पीछे हट गया कि सांसारिक लोगों के लिए धर्म को अर्थ और काम की पूँछ बना दिया अर्थात् संसार के ठेकेदार तो धनवान् लोग थे ही, धर्म का ठेका भी इनको दे दिया गया।

उस समय उन लोगों के हृदय से, जो अपने आत्मा में यह अनुभव करते थे कि धर्म का अधिकार बिना रुकावट के मनुष्य मात्र को है, यह पुकार उठी कि धर्म की दृष्टि से मनुष्य मात्र भाई भाई हैं और वे आत्मोन्नति के लिए समान अधिकार रखते हैं? पन्द्रहवीं शताब्दी में, जो धार्मिक संशोधन का सूत्रपात हुआ और कई वीर पुरुष धर्म की वेदी में बलि चढ़ाये गये, वह इसी पुकार का परिणाम था। एक शुद्धात्मा जिसका नाम जानहिस था और जो बोहीमिया का निवासी था, इस संशोधन प्रणाली

का नेता था, जो अत्याचार की अग्नि में जीवित ही जला दिया गया।

इस समय तुममें से प्रायः लोग इन घटनाओं के इतिहास से अनभिज्ञ हैं या उन्हें ऐसे झगड़े और टण्टे समझते हैं जो आग्रही और धर्मान्ध लोगों ने धार्मिक विषयों पर खड़े किये थे। किन्तु जब जातीय शिक्षा के द्वारा इतिहास सुगम और सर्वगत हो जायगा और तुम इस बात की शिक्षा ग्रहण करोगे कि धार्मिक उन्नति के साथ साथ किस प्रकार जातियों की सामाजिक उन्नति हुई है, उस समय तुम्हें इन झगड़ों का वास्तविक मूल्य मालूम होगा और तुम उन वीरों को, (जिन्होंने धर्म की वेदी में अपने प्राण दिये) अपना हितैषी समझ कर गौरवास्पद समझने लगोगे। यह उन्हीं धर्मवीरों और उनके अनुयायियों के प्रताप से हमने सीखा है कि ऐसा कोई व्यक्ति या समाज नहीं है कि ईश्वर और जाति के बीच में उसको मध्यस्थ होने का अधिकार प्राप्त हो। जो लोग बुद्धि या और श्रेष्ठ गुणों के कारण हमसे उच्च या उच्चतर हैं, वे हमें उन्नति का मार्ग बतला सकते हैं और हमारे लिए आदर्श बन सकते हैं, परन्तु किसी अधिकार या प्रभुत्व के साथ नहीं, वरन् मेल जोल और धार्मिक प्रेम भाव से।

ऐसे मनुष्य हैं, जो देशवासियों के अधिकारों को तुम से यह कह कर संकीर्ण करना चाहते हैं कि वास्तविक संस्था राष्ट्र या जाति है तुम सबको इसी संस्था का अंग होना उचित

है, इसके अतिरिक्त जो आंशिक मेल जोल तुम्हारे आपस में होगा, वह या तो राष्ट्र के विरुद्ध होगा या व्यर्थ होगा।

परन्तु राष्ट्र या जाति केवल उन विषयों और उन इच्छाओं में, जो समस्त देश या राष्ट्र से सामान्यतः सम्बद्ध हैं, देशवासियों की एकता सिद्ध करती हैं। किन्तु ऐसी इच्छायें और बातें भी हैं, जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देशवासियों से नहीं, वरन् उनकी एक विशेष संख्या से है और ठीक जिस प्रकार से इच्छायें और बातें जो सब से सम्बन्ध रखती हैं, जाति या राष्ट्र बनाती हैं, उसी प्रकार वे इच्छायें और बातें जो देश के किसी भाग विशेष या संख्या विशेष से सम्बन्ध रखती हैं, विशेष प्रकार की संख्यायें बनाती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य जाति की उन्नति के लिए एकता का होना आवश्यक है, यह बात भी मेलजोल की पुष्टि का एक प्रबल प्रमाण है।

राष्ट्र या शासन पद्धति कुछ सिद्धान्तों के संगठन का नाम है, जिन पर उसके स्थापित होने के समय देशनिवासियों का ऐकमत्य हो गया था। किन्तु कल्पना करो कि देशवासियों में से कुछ मनुष्यों ने कोई नया और सच्चा सिद्धान्त या उपयोगी आविष्कार किया, अब वह उसका प्रचार या उपयोग सिवाय संस्था या समाज (इन्स्टीट्यूशन या एसोसियेशन) के किस प्रकार कर सकते हैं? कल्पना करो किसी नये विज्ञान का आविर्भाव हुआ है या भिन्न भिन्न जातियों में मेलजोल का कोई नया साधन उत्पन्न हो गया है, या कोई और कारण हुआ

है, जिससे उन व्यक्तियों में से, जिनसे वह राष्ट्र बना है, किन्हीं को एक नये प्रकार का अनुराग उत्पन्न हो गया है तो ये लोग, जिन्होंने पहले पहल इसको मालूम किया, उन भिन्न भिन्न अनुरागों के बीच से जो चिरकाल से चले आते हैं, एक मत होकर जब तक प्रयत्न न करेंगे और अपने साधनों को उपयोग में न लायेंगे, क्योंकर अपना मार्ग बना सकते हैं।

आलस्य और पुरानी बातों पर (जो पहले से चली आ रही है) विश्वास ये ऐसी बातें है, जिनके प्रायः लोग अभ्यासी हो रहे हैं। ऐसी दशा में अकेले रिफ़ार्मर का अपने उपदेश से चाहे वह कैसा ही प्रभावशाली हो, उन पर प्रभाव डालना बड़ा ही कठिन काम है। यदि थोड़े से मनुष्य सहमत हो जायं और वे अपने सामाजिक या सामूहिक बल को पुष्ट कर लें, तो यह काम सुगमता से हो सकता है। भविष्य काल की शासन पद्धति एकता ही होगी, यदि यह न होगी तो राष्ट्र निर्जीव रहेगा और जो पदवी सभ्यता की वह प्राप्त कर चुका है, उससे आगे न बढ़ सकेगा।

एकता ऐसी होनी चाहिए कि जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यत्न करना है, उसमें उत्तरोत्तर बढ़ती चली जावे और उन सचाइयों के विरुद्ध न हो, जो विद्वानों के अन्वेषण और सर्वसाधारण के अनुमोदन से समाज में आदृत हो चुकी हैं।

यदि कोई संस्था इस उद्देश्य से स्थापित की जायं कि मनुष्यों का चरित्र बिगड़े, या कोई सभा अपने सभासदों के लिए बहु-

विचार का करना उचित और आवश्यक ठहरावें, यदि कोई संस्था अन्याय, उत्पीड़न और अत्याचार की शिक्षा दे तो ऐसी सब सभायें या संस्थायें अनुचित और नियम विरुद्ध समझी जायेंगी। जाति या राष्ट्र को अधिकार है कि ऐसी संस्थाओं के परिचालकों को दण्ड दे और यदि न मानें तो अपने देश से बहिष्कृत कर दे।

एकता का शान्ति के साथ होना आवश्यक है, एकता और मेल के सिवाय इसे कोई दूसरा शब्द उपयोग में नहीं लाना चाहिये। क्योंकि इसका उद्देश लोगों को प्रेरित करना है, न कि बाधित। सभा या संस्था का उद्देश सर्वसाधारण की उन्नति है, इसलिए उचित है कि सब को उस पर विचार करने और सम्मति देने का अवसर दिया जाय। प्रत्येक सभा या संस्था को उचित है कि वह दूसरों के उन अधिकारों को स्वीकार करे जो मनुष्य के स्वभावज हैं। किन्तु यदि कोई ऐसी संस्था हो जो श्रम-जीवियों के अधिकारों को नष्ट करना चाहे, या व्यक्तिगत और धर्मगत स्वतन्त्रता को रोकना चाहे तो जातीय गवर्नमेंट को उसे तोड़ देना चाहिए।

उल्लिखित दशाओं के अतिरिक्त देशवासियों को सभा या समाज के संगठन करने की स्वतन्त्रता का होना ऐसा ही वाञ्छनीय और आवश्यक है, जैसी कि उन्नति जिसका कि इसको प्राण कहना चाहिए। जो राष्ट्र या शासन इनको बल पूर्वक रोकना चाहता है वह अपने सामाजिक बल एवं विश्वास और प्रजा की सहानुभूति पर कुठाराघात करता है।

प्रिय बान्धवो ! तुम्हारे कर्त्तव्यों की, जो तुम्हारे अधिकारों का स्रोत है, यही भूमि है। तुम्हारे सामाजिक जीवन में अगणित समस्यायें उपस्थित होंगी, उनको पहले से जानना और उनकी पूर्त्ति में तुम्हें सहायता देना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। मैंने इस पुस्तक में केवल इस बात का ध्यान रक्खा है कि उन सिद्धान्तों को तुम्हारे सामने रक्खूं जो सामाजिक जीवन की विषम यात्रा में तुम्हारे पथ प्रदर्शक होंगे और जिनके यथार्थ व समीचीन उपयोग से तुमको स्वयं उन गुत्थियों के सुलझाने का ढङ्ग मालूम हो जायगा। मुझे विश्वास है कि मैं अपने इस उद्देश्य में कृतकार्य हुआ हूं।

मैंने तुम्हें बतलाया है कि ईश्वर धर्म का स्रोत और समता का केन्द्र है और धार्मिक एवं आत्मिक पवित्र संस्कार सम्पूर्ण राजनैतिक और सामाजिक प्रबन्ध और व्यवस्था के मूल हैं। मैंने तुमसे यह भी कहा है कि इन पवित्र भावों का प्रतिनिधि और समस्त राजनैतिक शक्ति का केन्द्र तुम्हारी जाति अर्थात् तुम और हम और वे सर्वसाधारण देशनिवासी हैं, जिनसे जाति बनती है।

मैंने तुमको यह भी बतलाया है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य उन्नति है अर्थात् वह उन्नति जो अपरिमित, अबाध और लगातार हो, जिसमें मनुष्य के हृद्गत भाव, व्यवहार और कार्यक्षेत्र की प्रत्येक शाखा का विकास हो जो त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से सम्बन्ध रखते हैं। मैंने इस पुस्तक में वर्णन किया है

कि मनुष्यजाति के प्रति, अपने देश के प्रति, अपने कुटुम्ब के प्रति और अपने आत्मा के प्रति तुम्हारे क्या कर्तव्य हैं और इन कर्तव्यों से मैंने उन गुणों और भावों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है, जिनसे मनुष्य का स्वभाव और चरित्र बनता है और जिनको सार्थक और उपयोगी बनाना तुम्हारा काम है।

वे भाव जो सदा प्रत्येक मनुष्य में पाये जावेंगे, ये हैं:— स्वतन्त्रता, शिक्षा की योग्यता, मिल कर रहने की इच्छा और उन्नति करने की योग्यता और अभिरुचि। इन भावों के बिना कोई वास्तव में मनुष्य या नागरिक नहीं हो सकता और मैंने इनसे न केवल तुम्हारे कर्त्तव्यों किन्तु तुम्हारे अधिकारों और उनके सदुपयोग के लिए जैसी शासन पद्धति तुमको अपेक्षित है, उसका भी दिग्दर्शन कराया है।

इन सिद्धान्तों को कभी न भूलो। यदि समय और जनता तुम्हारे अनुकूल नहीं है तो तुम स्वयं इनसे लाभ उठाओ। यदि तुम इन पवित्र भावों को अपने चरित्र में ढाल कर दिखा दोगे तो समय अपने आप तुम्हारे अनुकूल हो जायगा और जनता तुमको अपना आदर्श मानेगी।